अ ना स क्ति यो ग

[श्रीमद्भगवद्गीता भाषाटीका]

अनासक्तियोग

[श्रीमद्भगवद्गीता भाषाटीका]

मोहनदास करमचंद गांधी

१९४९

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

छठी बार : १९४९
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

(१)

जैसे स्वामी आनद आदि मित्रोके प्रेमके वश होकर मैंने सत्यके प्रयोगोभरके लिए आत्मकथाका लिखना आरंभ किया था वैसे गीताका अनुवाद भी। स्वामी आनदने असहयोगके जमानेमें मुझसे कहा था, "आप गीताका जो अर्थ करते है, वह अर्थ तभी समझमें आ सकता है जब आप एक बार समूची गीताका अनुवाद कर जाय और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह सपूर्ण एक बार पढ जायं। फुटकर श्लोकोंमेंसे अहिंसादिका प्रतिपादन मुझे तो ठीक नही लगता है।" मुझे उनकी दलीलमें सार जान पडा। मैंने जवाब दिया, "अवकाश मिलनेपर यह करूगा।" फिर मैं जेल गया। वहा तो गीताका अध्ययन कुछ अधिक गहराईसे करनेका मौका मिला। लोकमान्यका ज्ञानका भडार पढा। उन्होने ही पहले मुझे मराठी, हिंदी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकू तो गुजराती अवश्य पढ़ू। जेलके बाहर तो उसे न पढ पाया, पर जेलमें गुजराती अनुवाद पढा। इसे पढनेके बाद गीताके सबंधमें अधिक पढनेकी इच्छा हुई और गीतासबधी अनेक ग्रंथ उलटें-पलटे।

मुझे गीताका प्रथम परिचय एडविन आर्नल्डके पद्य-अनुवादसे सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीताका गुजराती अनुवाद पढनेकी तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हे पढ़ गया; परंतु ऐसी पढाई मुझे अपना अनुवाद जनताके सामने रखनेका बिलकुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजरातीका ज्ञान विद्वत्ताके

विचारसे कुछ नहीं है । तब मैंने अनुवाद करनेकी धृष्टता क्यों की ?

गीताको मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार उसका आचरण करनेका मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियोंका बराबर प्रयत्न है । गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रंथ है । उसके अनुसार आचरणमें निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है । इस निष्फलतामें सफलताकी फूटती हुई किरणोंकी झलक दिखाई देती है । यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थको आचारमें परिणत करनेका प्रयत्न करता है वह इस अनुवादमे है ।

इसके सिवा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र सरीखे जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृतमे गीता समझनेका समय नहीं है, इच्छा नही है, परंतु जिन्हें गीतारूपी सहारेकी आवश्यकता है, उन्हीके लिए इस अनुवादकी कल्पना है ।[1] गुजराती भाषाका मेरा ज्ञान कम होनेपर भी उसके द्वारा गुजरातियोंको मेरे पास जो कुछ पूंजी हो वह दे जानेकी मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है । मैं यह चाहता हूं अवश्य कि आज गंदे साहित्यका जो प्रवाह जोरोंसे जारी है उस समयमें हिंदू-धर्ममें अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रंथका सरल अनुवाद गुजराती जनताको मिले और उसमेंसे वह उस प्रवाहका सामना करनेकी शक्ति प्राप्त करे ।

इस अभिलाषामें दूसरे गुजराती अनुवादोंकी अवहेलना नही है । उन सबका स्थान भले ही हो; पर उनके पीछे उनके अनुवादकोका आचाररूपी अनुभवका दावा हो, ऐसा मेरी जानकारीमें नही है । इस अनुवादके पीछे अड़तीस वर्षके आचारके प्रयत्नका दावा है । इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हू कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हे धर्मको आचरणमें लानेकी इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमेंसे शक्ति प्राप्त करें ।

---

[1] गांधीजीका अनुवाद गुजरातीमें है । यह उसीका हिंदी रूपान्तर है ।

इस अनुवादमें मेरे साथियोंकी मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृतज्ञान बहुत अधूरा होनेके कारण शब्दार्थपर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतनेभरके लिए इस अनुवादको विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवालाने देख लिया है।

(२)

अब गीताके अर्थपर आता हूं।

सन् १८८८-८९ मे जब गीताका प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रंथ नही है, वरन् इसमें भौतिक युद्धके वर्णनके बहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरंतर होते रहनेवाले द्वंद्वयुद्धका ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओंकी रचना हृदयगत युद्धको रोचक बनानेके लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्मका और गीताका विशेष विचार करनेके बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़नेके बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रंथको मैं आधुनिक अर्थमें इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्वमें ही हैं। पात्रोंकी अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्तिका वर्णन करके व्यास भगवानने राजा-प्रजाके इतिहासको मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूलमें ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारतमें तो उनका उपयोग व्यास भगवानने केवल धर्मका दर्शन करानेके लिए ही किया है।

महाभारतकारने भौतिक युद्धकी आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःखके सिवा और कुछ नही रहने दिया।

इस महाग्रंथमें गीता शिरोमणिरूपसे विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्धव्यवहार सिखानेके बदले स्थितप्रज्ञके लक्षण सिखाता है। स्थित-प्रज्ञका ऐहिक युद्धके साथ कोई संबंध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणोंमेंसे

ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ोंके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करनेके लिए गीता-जैसी पुस्तककी रचना संभव नही है।

गीताके कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान हैं; परंतु काल्पनिक हैं। यहां कृष्ण नामके अवतारी पुरुषका निषेध नही है। केवल संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्णावतारका आरोपण पीछेसे हुआ है।

अवतारसे तात्पर्य है शरीरधारी पुरुषविशेष। जीवमात्र ईश्वरके अवतार हैं, परंतु लौकिक भाषामें सबको हम अवतार नही कहते। जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवताररूपसे पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नही जान पडता। इसमें न तो ईश्वरके बड़प्पनमें कमी आती है, न उसमे सत्यको आघात पहुचता है। "आदम खुदा नही; लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नही।" जिसमे धर्म-जागृति अपने युगमें सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणीसे कृष्णरूपी संपूर्णावतार आज हिंदूधर्ममे साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्यकी अंतिम सदभिलाषाका सूचक है। मनुष्यको ईश्वररूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नही मिलती। ईश्वररूप होनेके प्रयत्नका नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्मग्रथोका विषय है, वैसे ही गीताका भी है। पर गीताकारने इस विषयका प्रतिपादन करनेके लिए गीता नही रची, वरन् आत्मार्थीको आत्मदर्शनका एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीताका आशय है। जो चीज हिंदूधर्मग्रंथोमें छिट-फुट दिखाई देती है, उसे गीताने अनेक रूपों, अनेक शब्दोमे, पुनरुक्तिका दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्मफलत्याग'।

इस मध्यबिंदुके चारों ओर गीताकी सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामंडलरूपमें सज गये हैं। जहाँ देह

है वहां कर्म तो है ही। उसमेंसे कोई मुक्त नहीं है, तथापि देहको प्रभुका मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मोंने प्रतिपादन किया है; परंतु कर्ममात्रमें कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोषकी ही होती है। तब कर्मबंधनमेंसे अर्थात् दोषस्पर्शमेंसे कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें दिया है—"निष्काम कर्मसे, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफलत्याग करके, सब कर्मोंको कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और कायाको ईश्वरमें होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफलत्याग कहनेभरसे नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदयमथनसे ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करनेके लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकारका ज्ञान तो बहुतेरे पंडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कंठ होते हैं; परंतु उनमेंसे अधिकांश भोगादि-में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञानका अतिरेक शुष्क पांडित्यके रूपमें न हो जाय, इस खयालसे गीताकारने ज्ञानके साथ भक्तिको मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्तिका ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, "भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिरका सौदा' है, इसलिए गीताकारने भक्तके लक्षण स्थितप्रज्ञके-से बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीताकी भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीतामें बताये उपचारका बाह्य चेष्टा या क्रियाके साथ कम-से-कम संबंध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्तिके लक्षण नहीं हैं। जो किसीका द्वेष नहीं करता, जो करुणाका भंडार है और ममतारहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंका भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभका त्याग

करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी नहीं होती और निंदासे ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांत प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषोंमें संभव नहीं है।

इसमेंसे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपयेके बदलेमें जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्तिके बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह संभव नही है। यहां तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नही तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधनकी पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है और गीताके मोक्षका अर्थ परमशांति है।

किंतु ऐसे ज्ञान और भक्तिको कर्मफलत्यागकी कसौटीपर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पनामें शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करनेको नही रहता। हाथसे लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्मबंधन है। यज्ञशून्य जहां ज्ञानी गिना जाय वहां लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रियाको स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पनामें भक्तसे मतलब है बाह्याचारी,[1] माला लेकर जप करनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी मालामें विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगनेके समय ही मालाको हाथसे छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गोंको गीताने साफतौरसे कह दिया, "कर्म बिना किसीने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्मद्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी

---

[1] जो बाह्याचारमें लीन रहता है और शुद्ध भावसे मानता है कि यही भक्ति है।

आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहूं तो इन लोकोंका नाश हो जाय।" तो फिर लोगोंके लिए पूछना ही क्या रह जाता है ?

परंतु एक ओरसे कर्ममात्र बंधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओरसे देही इच्छा-अनिच्छासे भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएं कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे ? जहांतक मुझे मालूम है, इस समस्याको गीताने जिस तरह हल किया है वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रंथने नहीं किया है। गीताका कहना है, "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीताकी वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फलत्यागका यह अर्थ नहीं है कि परिणामके संबंधमें लापरवाही रहे। परिणाम और साधनका विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होनेके बाद जो मनुष्य परिणामकी इच्छा किये बिना साधनमें तन्मय रहता है वह फलत्यागी है।

पर यहा फलत्यागका कोई यह अर्थ न करे कि त्यागीको फल मिलता नही। गीतामें ऐसे अर्थको कही स्थान नही है। फलत्यागसे मतलब है फलके संबंधमें आसक्तिका अभाव। वास्तवमें देखा जाय तो फलत्यागीको तो हजारगुना फल मिलता है। गीताके फलत्यागमें तो अपरिमित श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामका ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म—कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्ममेंसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें पड़ता जाता है। परिणामकी चिंता करनेवालेकी स्थिति विषयांधकी-सी हो जाती है और अंतमें वह विषयीकी भांति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करनेके लिए हर किसी साधनसे काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्तिके ऐसे कटु परिणामोंमेंसे गीताकारने अनासक्तिका अर्थात् कर्मफलत्यागका सिद्धांत निकाला और संसारके सामने अत्यंत आकर्षक भाषामें रखा। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु है, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहारमें धर्म नही बचाया जा सकता, धर्मको जगह नही हो सकती, धर्मका उपयोग केवल मोक्षके लिए किया जा सकता है। धर्मकी जगह धर्म शोभा देता है और अर्थकी जगह अर्थ।" बहुतोंसे ऐसा कहते हम सुनते है। गीताकारने इस भ्रमको दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहारके बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहारमें धर्मको उतारा है। जो धर्म व्यवहारमें न लाया जा सके वह धर्म नही है, मेरी समझसे यह बात गीतामें है। मतलब, गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे है कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्यको अनेक धर्मसंकटोंमेंसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते है। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलतामेंसे शांति उत्पन्न होती है।

इस विचारश्रेणीके अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीताकी शिक्षाको व्यवहारमें लानेवालेको अपने-आप सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्तिके बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्यके कार्यको हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणामकी इच्छा रहती है। गीताकालके पहले भी अहिंसा परमधर्मरूप मानी जाती थी। पर गीताको तो अनासक्तिके सिद्धातका प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्यायमें ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परंतु यदि गीताको अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्तिमें अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकारने भौतिक युद्धको उदाहरणके रूपमें भी क्यों लिया? गीतायुगमें अहिंसा धर्म मानी जानेपर भी भौतिक

युद्ध सर्वमान्य वस्तु होनेके कारण गीताकारको ऐसे युद्धका उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

परंतु फलत्यागके महत्त्वका अंदाजा करते हुए गीताकारके मनमें क्या विचार थे, उसने अहिंसाकी मर्यादा कहां निश्चित की थी, इसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्त्वके सिद्धांतोंको संसारके संमुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धांतोंका महत्त्व पूर्णरूपसे पहचानता है या पहचाननेके बाद समूचेको भाषामें रख सकता है। इसमें काव्यकी और कविकी महिमा है। कविके अर्थका अंत ही नही है। जैसे मनुष्यका, उसी प्रकार महावाक्योंके अर्थका विकास होता ही रहता है। भाषाओंके इतिहाससे हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दोंके अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीताके अर्थके संबंधमें भी है। गीताकारने स्वयं महान् रूढ शब्दोंके अर्थका विस्तार किया है। गीताको ऊपरी दृष्टिसे देखने-पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीतायुगके पहले कदाचित् यज्ञमें पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीताके यज्ञमें उसकी कहीं गंधतक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञोंका राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञका अर्थ है मुख्यरूपसे परोपकारके लिए शरीरका उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याएं भी निकाली जा सकती हैं; पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीताके संन्यासके अर्थके संबंधमें है। कर्ममात्रका त्याग गीताके संन्यासको भाता ही नहीं। गीता-का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकारने महान् शब्दोंका व्यापक अर्थ करके अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकारकी भाषाके अक्षरोंसे यह बात भले ही निकलती हो कि संपूर्ण कर्मफलत्यागीद्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परंतु गीताकी शिक्षाको पूर्णरूपसे अमलमें लानेका ४० वर्षतक सतत प्रयत्न करनेपर

मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसाका पूर्णरूपसे पालन किये बिना संपूर्ण कर्मफलत्याग मनुष्यके लिए असंभव है।

गीता सूत्रग्रंथ नहीं है। गीता एक महान धर्मकाव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिए उतने ही उसमेंसे नये और सुंदर अर्थ लीजिए। गीता जनसमाजके लिए है, उसमें एक ही बातको अनेक प्रकारसे कहा है। अतः गीतामें आये हुए महाशब्दोंका अर्थ युग-युगमें बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूलमंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीतिसे सिद्ध किया जा सके उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधिनिषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एकके लिए जो विहित होता है, वही दूसरेके लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देशमें जो विहित होता है, वह दूसरे कालमें, दूसरे देशमें निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीतामें ज्ञानकी महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है। अतः वह अश्रद्धालुके लिए नहीं है। गीताकारने ही कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।" १८।६७

"परंतु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी परमभक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा।" १८।६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभ लोकको पावेगा।" १८।७१

(कौसानी, हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण २, १९८६
ता० २४-६-२९

—मो० क० गांधी

अनासक्तियोग

: १ :

अर्जुनविषादयोग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्मसंकट—हृदयमथन सब जिज्ञासुओंको एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय ! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पांडुके पुत्रोंने क्या किया ? १

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्षका द्वार हो सकता है। पापसे इसकी उत्पत्ति है और पापका यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीरमें भली और बुरी वृत्तियोंमें युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

संजयने कहा—

उस समय पांडवोंकी सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर बोले— २

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महती चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा सजाई हुई पांडवोंकी इस बड़ी सेनाको देखिए। ३

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

यहां भीम, अर्जुन-जैसे लड़नेमें शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित्, कुंतिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, ५

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्वं एव महारथाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदीके पुत्र, ये सभी महारथी हैं । ६

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओरके जो मुख्य योद्धा हैं उन्हें आप जान लीजिए । अपनी सेनाके नायकोंके नाम मैं आपके ध्यानमें लानेके लिए कहता हूं । ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्धमें जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, ८

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकारके शस्त्रोंसे युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं । वे सब युद्धमें कुशल हैं । ९

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्मद्वारा रक्षित हमारी सेनाका बल अपूर्ण है, पर भीमद्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है । १०

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थानसे सब मार्गोंसे भीष्मपितामहकी रक्षा अच्छी तरह करें । ११
(इस प्रकार दुर्योधनने कहा)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब उसे आनंदित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी पितामहने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शंख बजाया । १२

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे एक साथ ही बज उठे । यह नाद भयंकर था । १३

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इतनेमें सफेद घोड़ोंवाले बड़े रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य शंख बजाये। १४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्णने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुनने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीमने पौंड्र नामक महाशंख बजाया। १५

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनंतविजय नामक शंख बजाया और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणि-पुष्पक नामक शंख बजाया। १६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़े धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, १७

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदराज, द्रौपदीके पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन्! अपने-अपने शंख बजाए। १८

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

पृथ्वी और आकाशको गुंजा देनेवाले उस भयंकर नादने कौरवोंके हृदय विदीर्ण कर डाले । १९

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे राजन् ! हनुमान चिह्नकी ध्वजावाले अर्जुनने कौरवोंको सजे देखकर, हथियार चलानेकी तैयारीके समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेशसे ये वचन कहे— २०-२१

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

अर्जुन बोले—

"हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा रखो; २१

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

जिससे युद्धकी कामनासे खड़े हुए लोगोंको मैं

देखूं और जानूं कि इस रणसंग्राममें मुझे किसके साथ लड़ना है। २२

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छावाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं उन्हें मैं देखूं तो सही।" २३

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजयने कहा—

हे राजन्! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे यों कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओंके बीचमें सब राजाओं और भीष्म-द्रोणके सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—"हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख।" २४–२५

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः
पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहां दोनों सेनाओंमें विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियोंको अर्जुनने देखा। इन सब बांधवोंको यों खड़ा देखकर, खेद उत्पन्न होनेके कारण दीन बने हुए, कुंतीपुत्र इस प्रकार बोले— २६-२७-२८

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! युद्धके लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन स्नेहियोंको देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोएँ खड़े हो रहे हैं। २८-२९

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातु भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथसे गांडीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती

है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है। ३०

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इसके सिवा हे केशव! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूं। युद्धमें स्वजनोंको मारकर कुछ श्रेय नही देखता। ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्य सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

उन्हें मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और सुख चाहता; हे गोविन्द! मुझे राज्यका, भोगका या जिंदगीका क्या काम है? ३२

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

जिनके लिए राज्य, भोग और सुखकी हमने चाहना की वे ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य संबंधीजन जीवन और धनकी आशा छोड़कर युद्धके लिए खड़े हैं। ३३-३४

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

मुझे ये मार डालें अथवा मुझे तीनों लोकका राज्य मिले तो भी, हे मधुसूदन ! मैं उन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर एक जमीनके टुकड़ेके लिए कैसे मारूं ?　　३५

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर मुझे क्या आनंद होगा ? इन आततायियोंको भी मारकर हमें पाप ही लगेगा।　　३६

तस्मान्नार्हा वयं हन्तु धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इससे हे माधव ! यह उचित नहीं कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्के पुत्रोंको हम मारें। स्वजनको ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ?　　३७

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृत दोष प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

लोभसे जिनके चित्त मलिन हो गये हैं वे कुलनाशसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहके पापको भले ही न देख सकें, परंतु हे जनार्दन ! कुलनाशसे होनेवाले दोषको सम-

झनेवाले हम लोग इस पापसे बचना क्यों न जानें ? ३८-३९

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्मोंका नाश होता है और धर्मका नाश होनेसे अधर्म समूचे कुलको डुबा देता है । ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्मकी वृद्धि होनेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं और उनके दूषित होनेसे वर्णका संकर होता है । ४१

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

ऐसे संकरसे कुलघातकका और उसके कुलका नरकवास होता है और पिंडोदककी क्रिया से वंचित रहनेके कारण उसके पितरोंकी अधोगति होती है । ४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कलघातक लोगोंके इस वर्णसंकरको उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्मोंका नाश होता है । ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

हे जनार्दन! कुलधर्मका नाश हुए मनुष्यका नरकमें अवश्य वास होता है, ऐसा हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

अहो, कैसे दुःखकी बात है कि हमलोग महापाप करनेको तुल गये हैं, अर्थात राज्य-सुखके लोभसे स्वजनको मारनेको तैयार हो गये हैं! ४५

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्रके शस्त्रधारी पुत्र रणमें मार डाले तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा। ४६

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

संजयने कहा—

ऐसा कहकर रणमें शोकसे व्यग्रचित्त हुआ अर्जुन धनुषबाण डालकर रथके पिछले भागमें बैठ गया। ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय ।

: २ :

सांख्ययोग

मोहके वश होकर मनुष्य अधर्मको धर्म मानता है। मोहके कारण अर्जुनने अपना और पराया भेद किया, इस भेदको मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्माकी भिन्नता, देहकी अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्माकी नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थका अधिकारी है, परिणामका नहीं। इसलिए उसे कर्तव्यका निश्चय करके निश्चित भावसे उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणतासे वह मोक्षकी प्राप्तिको पहुंच सकता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजयने कहा—

यों करुणासे दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुःखी अर्जुनसे मधुसूदनने ये वचन कहे— १

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषोंके अयोग्य, स्वर्गसे विमुख रखनेवाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ीमें कहांसे हो गया ? २

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन । यह तुझे शोभा नहीं देता । हृदयकी पामर निर्बलताका त्याग करके हे परंतप ! तू उठ । ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्मको और द्रोणको रणभूमिमें बाणोंसे मैं कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं। ४

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

महानुभाव गुरुजनोंको मारनेके बदले इस लोकमें भिक्षान्न खाना भी अच्छा है; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर तो मुझे रक्तसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

मैं नहीं जानता कि दोनोंमें क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या वे हमें जीतें यह ? जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता वे धृतराष्ट्रके पुत्र यह सामने खड़े हैं। ६

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कायरतासे मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया हूं। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहनेकी आपसे प्रार्थना करता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरणमें आया हूं। मुझे मार्ग बतलाइए। ७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

इस लोकमें धनधान्यसंपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इंद्रासन मिले तो उसमें भी इंद्रियोंको चूस लेनेवाले मेरे शोकको दूरकर सकने-जैसा मैं कुछ नहीं देखता। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेश परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजयने कहा—

हे राजन ! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंदसे ऐसा कहकर, 'नहीं लड़ूंगा' कहते हुए चुप हो गये। ९

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत ! इन दोनों सेनाओंके बीचमें उदास होकर बैठे हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए हृषीकेशने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान बोले—

तू शोक न करनेयोग्यका शोक करता है और पंडिताईके बोल बोलता है; परंतु पंडित मृत और जीवितोंका शोक नहीं करते । ११

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि वास्तवमें देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी कालमें नहीं थे अथवा भविष्यमें नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है । १२

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहधारीको जैसे इस शरीरमें कौमार, यौवन और

जराकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुषको मोह नहीं होता। १३

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौंतेय! इंद्रियोंके स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह। १४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुखदुःखमें सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुषको ये विषय व्याकुल नही करते वह मोक्षके योग्य बनता है। १५

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत्का अस्तित्व नहीं है और सत्का नाश नही है। इन दोनोंका निर्णय ज्ञानियोंने जाना है। १६

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्ययका नाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। १७

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य रहनेवाले, अपरिमित और अविनाशी देहीकी ये देहें नाशवान कही गई हैं, इसलिए हे भारत ! तू युद्ध कर । १८

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इसे मारनेवाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं । यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है । १९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है । यह था और भविष्यमें नहीं होगा ऐसा भी नहीं है । इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीरका नाश होनेसे इसका नाश नहीं होता । २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्माको अविनाशी, नित्य,

अजन्मा और अव्यय मानता है वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है ?   २१

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये धारण करता है वैसे देहधारी जीर्ण हुई देहको त्यागकर दूसरी नई देह पाता है ।   २२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस (आत्मा)को शस्त्र छेदते नही, आग जलाती नही, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं ।   २३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह छेदा नही जा सकता है, जलाया नही जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है । यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है ।   २४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

फिर, यह इंद्रिय और मनके लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने तो भी, हे महाबाहो! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मे हुएके लिए मृत्यु और मरे हुएके लिए जन्म अनिवार्य है। अतः जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नही है। २७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत! भूतमात्रकी जन्मके पहलेकी और मृत्युके पीछेकी अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिंताका क्या कारण है? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्यसमान देखता है कोई इसे आश्चर्यसमान वर्णन करता है और कोई इसे आश्चर्यसमान वर्णन किया हुआ सुनता है, परंतु सुननेपर भी कोई इसे जानता नहीं है। २९

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! सबकी देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना उचित नहीं है। ३०

टिप्पणी—यहांतक श्रीकृष्णने बुद्धिप्रयोगसे आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व समझाकर बतलाया कि यदि किसी स्थितिमें देहका नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजनपरिजनका भेद करके कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुनको बतलाते हैं कि क्षत्रिय धर्म क्या है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित

नहीं, क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। ३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा। ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे और सम्मानित पुरुषके लिए अपकीर्ति मरणसे भी बुरी है। ३४

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन महारथियोंसे तूने मान पाया है, वे तुझे

भयके कारण रणसे भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे । ३५

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे शत्रु तेरे बलकी निंदा करते हुए बहुत-सी न कहनेयोग्य बातें कहेंगे । इससे अधिक दुःख-दायी और क्या हो सकता है ? ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा । यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा । अतः हे कौंतेय ! लड़नेका निश्चय करके तू खड़ा हो । ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवानने आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व बतलाया । फिर यह भी बतलाया कि अनायासप्राप्त युद्ध करनेमें क्षत्रियको धर्मकी बाधा नहीं होती । इस प्रकार ३१वे श्लोकसे भगवानने परमार्थके साथ उपयोगका मेल मिलाया है । इतना कहकर फिर भगवान गीताके प्रधान उपदेशका दिग्दर्शन एक श्लोकमें कराते हैं ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयको समान समझकर युद्धके लिए तैयार हो। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैंने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवादके अनुसार समझाता हूं सो सुन। इसका आश्रय लेनेसे तू कर्मबंधनको तोड़ सकेगा। ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें आरंभका नाश नहीं होता, उलटा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्मका थोड़ा-सा पालन भी महाभयसे बचा लेता है। ४०

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनंदन ! योगवादीकी निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परंतु अनिश्चयवालोंकी बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनंत होती हैं।

टिप्पणी—जब बुद्धि एकसे मिटकर अनेक (बुद्धियां) होती है, तब वह बुद्धि न रहकर वासना-का रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियोंसे तात्पर्य है वासनाएं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अज्ञानी वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्गको श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरणरूपी कर्मके फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्यप्राप्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोंके वर्णनसे भरी हुई बातें बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य-में आसक्त रहनेवाले इन लोगोंकी वह बुद्धि मारी जाती है, इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधिमें ही स्थिर हो सकती है।

४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवादके विरुद्ध कर्मकांड अथवा वेदवादका वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें आया है।

कर्मकांड या वेदवादका मतलब फल उपजानेके लिए मंथन करनेवाली अगणित क्रियाएं। ये क्रियाएं वेदके रहस्यसे, वेदांतसे अलग और अल्प फलवाली होनेके कारण निरर्थक हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेदके विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तुमें स्थित रह। किसी वस्तुको पाने और संभालनेके झंझटसे मुक्त रह। आत्मपरायण हो। ४५

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे जो काम कुएंसे निकलते हैं वे सब, सब प्रकारसे सरोवरसे निकलते हैं, वैसे जो सब वेदोंमें है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायणको आत्मानुभवमेंसे मिल रहता है। ४६

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्ममें ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलोंमें कदापि नहीं। कर्मका फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करनेका भी तुझे आग्रह न हो। ४७

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनजय ।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

हे धनजय ! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलतामें समान भाव रखकर तू कर्म कर । समताका ही नाम योग है । ४८

दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा· फलहेतव. ।।४९।।

हे धनंजय ! समत्वबुद्धिकी तुलनामे केवल कर्म बहुत तुच्छ है । तू समत्वबुद्धिका आश्रय ले । फलको हेतु बनानेवाले मनुष्य दयाके पात्र है । ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग. कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुषको यहां पाप-पुण्यका स्पर्श नही होता, इसलिए तू समत्वके लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है । ५०

कर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण: ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता. पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

क्योंकि समत्वबुद्धिवाले लोग कर्मसे उत्पन्न होने-वाले फलका त्याग करके जन्मबंधनसे मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंकगति—मोक्षपद—पाते हैं । ५१

यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुएके विषयमें और सुननेको जो बाकी होगा उसके विषयमें उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकारके सिद्धांतोंको सुननेसे व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें स्थिर होगी तभी तू समत्वको प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थके क्या लक्षण होते हैं ? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ? ५४

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मनमें उठती हुई समस्त कामनाओंका त्याग करता है और आत्माद्वारा ही आत्मामें संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनंद अंदरसे खोजना, सुख-दुःख देनेवाली बाहरी चीजोंपर आनंदका आधार न रखना। आनंद सुखसे भिन्न वस्तु है यह ध्यानमें रखना चाहिए। मुझे धन मिलनेपर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है। मैं भिखारी होऊं, भूखका दुःख होनेपर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनोंमें न पड़नेमे जो बात मौजूद है वह आनंद देती है और वही आत्मसंतोष है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखसे जो दुःखी न हो, सुखकी इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभकी

प्राप्तिमें न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब ओरसे अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियोंको उनके विषयोंमेंसे समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है। ५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं। परंतु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वरका साक्षात्कार होनेसे निवृत्त होता है। ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदिका निषेध नहीं करता, वरन उसकी सीमा सूचित करता है। विषयोंको शांत करनेके लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परंतु उनकी जड़ अर्थात उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वरकी झांकी होनेपर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कारका जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसोंको भूल ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौंतेय ! चतुर पुरुषके उद्योग करते रहनेपर भी इद्रियां ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मनको भी बलात्कारसे हर लेती है । ६०

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन सब इंद्रियोंको वशमें रखकर योगीको मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए; क्योंकि अपनी इंद्रियां जिसके वशमे है, उसकी बुद्धि स्थिर है । ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्तिके बिना—ईश्वरकी सहायताके बिना—मनुष्यका प्रयत्न मिथ्या है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषको उनमे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिमेंसे कामना होती है और कामनामेंसे क्रोध उत्पन्न होता है । ६२

टिप्पणी—कामनावालेके लिए क्रोध अनिवार्य है; क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नही ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधमेंसे मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़तासे स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होनेसे ज्ञानका नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक-तुल्य है। ६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परंतु जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित होकर उसके वशमें रहती हैं, वह मनुष्य इंद्रियोंका व्यापार चलाते हुए भी चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

चित्तकी प्रसन्नतासे उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त हो जानेवालेकी बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है। ६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है। और जहां शांति नहीं, वहां सुख कहांसे हो सकता है ? ६६

इन्द्रियाणा हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

विषयोंमें भटकनेवाली इंद्रियोंके पीछे जिसका मन दौड़ता है उसका मन वायु जैसे नौकाको जलमें खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धिको जहां चाहे खींच ले जाता है । ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

इसलिए हे महाबाहो ! जिसकी इंद्रियां चारों ओरके विषयोंमेंसे निकलकर उसके वशमें आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है । ६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है । जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है । ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रातके बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदिमें अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं । संयमी रातके सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रिमें उठकर ईश्वर-का ध्यान करते हैं । इसके सिवा भोगी संसारका

प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वरको भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचोंसे बेखबर रहता है और ईश्वरका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनोंका पंथ न्यारा है। यह इस श्लोकमें भगवानने बतलाया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नदियोंके प्रवेशसे भरता रहनेपर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमें संसारके भोग शांत हो जाते हैं, वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य। ७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सब कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है। ७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ! ईश्वरको पहचाननेवालेकी स्थिति ऐसी होती है। उसे पानेपर फिर वह मोहके वश नहीं होता

और यदि मृत्युकालमें भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। ७२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय।

: ३ :

कर्मयोग

यह अध्याय गीताका स्वरूप जाननेकी कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको

अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव ! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अपने मिले-जुले वचनोंसे मेरी बुद्धिको आप शंका-ग्रस्त-सी कर रहे हैं । अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए कि जिससे मेरा कल्याण हो । २

टिप्पणी—अर्जुन उलझनमें पड़ जाता है; क्योंकि एक ओरसे भगवान उसे शिथिल हो जानेका उलाहना देते हैं और दूसरी ओरसे दूसरे अध्यायके ४९वें, ५०वें श्लोकोंमें कर्मत्यागका आभास मिलता है । गंभीरतासे विचारनेपर ऐसा नहीं है, यह भगवान आगे बतलायेंगे ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे पापरहित ! इस लोकमें मैंने पहले दो अवस्थाएं बतलाई हैं : एक तो ज्ञानयोगद्वारा सांख्योंकी, दूसरी कर्मयोगद्वारा योगियोंकी । ३

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्मका आरंभ न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नहीं करता है और न कर्मके केवल बाहरी त्यागसे मोक्ष पाता है। ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मनसे, वाणीसे और शरीरसे कर्म न करनेका भाव। ऐसी निष्कर्मताका अनुभव कर्म न करनेसे कोई नहीं कर सकता। तब इसका अनुभव कैसे हो सो अब देखना है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

वास्तवमें कोई एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्यसे कर्म कराते हैं। ५

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६॥

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इंद्रियोंको रोकता है, परंतु उन-उन इंद्रियोंके विषयोंका चिंतन मनसे करता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है। ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणीको तो रोकता है; पर मनमें किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है;

बल्कि मिथ्याचारी है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जबतक मन न रोका जा सके तबतक शरीरको रोकना निरर्थक है । शरीरको रोके बिना मनपर अंकुश आता ही नहीं । परंतु शरीरके अंकुशके साथ-साथ मनपर अंकुश रखनेका प्रयत्न होना ही चाहिए । जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणोंसे शरीरको रोकते हैं, परंतु मनको नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मनसे तो विषय भोगते हैं और मौका पानेपर शरीरसे भी भोगनेमें नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारीकी यहां निंदा है । इसके आगेका श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

परंतु हे अर्जुन ! जो इंद्रियोंको मनके द्वारा नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाली इंद्रियोंद्वारा कर्मयोगका आरंभ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है । ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और भीतरका मेल साधा गया है । मनको अंकुशमें रखते हुए भी मनुष्य शरीर-द्वारा अर्थात कर्मेंद्रियोंद्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही; परंतु जिसका मन अंकुशमें है उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषोंकी

बाणी सुनेंगे । जिसका मन अपने वशमें है वह, जिसे हम लोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता । ऐसा मनुष्य आत्माको शोभा देनेवाले ही कर्म करेगा । ऐसे कर्मोंका करना कर्म-मार्ग है । जिसके द्वारा आत्माका शरीरके बंधनमें छूटनेका योग सधे उसका नाम कर्मयोग है । इसमें विषयासक्तिको स्थान हो ही नहीं सकता ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

इसलिए तू नियत कर्म कर । कर्म न करनेसे कर्म करना अधिक अच्छा है । तेरे शरीरका व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता ।　८

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोकमें है । उसका संबंध पिछले श्लोकसे है । उसमें मनद्वारा इंद्रियोंको नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवालेकी स्तुति है । अतः यहां नियत कर्मका अर्थात् इंद्रियोंको नियममें रखकर किये जानेवाले कर्मका अनुरोध किया गया है ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्मके अतिरिक्त कर्मसे

इस लोकमें बंधन पैदा होता है। इसलिए हे कौंतेय ! तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ९

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञके सहित प्रजाको उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्माने कहा, "यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

"तुम यज्ञद्वारा देवताओंका पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें और एक-दूसरेका पोषण करके तुम परम कल्याणको पाओ। ११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"यज्ञद्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।" १२

टिप्पणी—यहां देवका अर्थ है भूतमात्र, ईश्वरकी सृष्टि। भूतमात्रकी सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञसे उबरा हुआ खानेवाले है, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नमेंसे भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे होता है। १४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तू जान ले कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्मसे उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञमें विद्यमान है। १५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रवर्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इंद्रियसुखोंमें फंसा रहता है और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है। १६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

पर जो मनुष्य आत्मामें रमण करनेवाला है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें संतोष मानता है, उसे कुछ करनेको नहीं रहता। १७

नव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

करने, न करनेमें उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्रमें उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तू तो संगरहित रहकर निरंतर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादिकने कर्मसे ही परमसिद्धि प्राप्त की। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका

अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेको नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्ममें लगा रहता हूं। २२

टिप्पणी—सूर्य, चंद्र, पृथ्वी इत्यादिकी अविराम और अचूक गति ईश्वरके कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नहीं, किंतु शारीरिक गिने जायंगे। ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शंकाकी गुंजाइश नही है; क्योंकि वह शारीरिक होनेपर भी शरीरोंकी तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्यको समझना तो यह है कि जैसे ईश्वरकी प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्यको भी बुद्धिपूर्वक किंतु यंत्रकी भांति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्यकी विशेषता यंत्रगतिका अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जानेमें नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गतिका अनुकरण करनेमें है। अलिप्त रहकर, असंग

रहकर, यंत्रकी तरह कार्य करनेसे उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरनेतक ताजा रहता है। देह अपने नियमके अनुसार समयपर नष्ट होती है, परंतु उसमें रहनेवाला आत्मा जैसा था वैसा ही बना रहता है।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं कभी अंगड़ाई लेनेके लिए भी रुके बिना कर्ममें लगा न रहूं तो हे पार्थ ! लोग सब तरहसे मेरे बर्तावका अनुसरण करेंगे। २३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्थाका कर्ता बनूं और इन लोकोंका नाश करूं। २४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानीको आसक्तिरहित होकर लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिए। २५

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्ममें आसक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिको ज्ञानी डांवाडोल न करे, परंतु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकारसे कर्म करके उन्हें सब कर्मोंमें लगावे। २६

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए होते हैं। अहंकारसे मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' यह मानता है। २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो! गुण और कर्मके विभागका रहस्य जाननेवाला पुरुष 'गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं' यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता। २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नही होता और जब उन अंगोंको व्याधि होती है तभी मनुष्यको उनकी चिंता करनी पड़ती है या उसे उन अंगोंके अस्तित्वका भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नही होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारताको जानता तक नहीं; पर उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी

अनासक्ति अभ्यास और ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होती है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे मोहे हुए मनुष्य गुणोंके कर्मोंमें आसक्त रहते हैं । ज्ञानियोंको चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंदबुद्धि लोगोंको अस्थिर न करें । २९

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अध्यात्मवृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्वको छोड़, रागरहित होकर तू युद्ध कर । ३०

टिप्पणी—जो देहमें विद्यमान आत्माको पहचानता और उसे परमात्माका अंश जानता है वह सब परमात्माको ही अर्पण करेगा, वैसे ही, जैसे कि नौकर मालिकके नामपर काम करता है और सब कुछ उसीको अर्पण करता है ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधनसे छूट जाते हैं । ३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परंतु जो मेरे इस अभिप्रायमें दोष निकालकर उसका अनुसरण नही करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ । ३२

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार बरतते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभावका अनुसरण करते हैं, वहां बलात्कार क्या कर सकता है ? ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्यायके ६१वें या ६८वें श्लोकका विरोधी नही है। इंद्रियोंका निग्रह करते-करते मनुष्यको मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रहकी निंदा नही की गई है, स्वभावका साम्राज्य दिखाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोकका अर्थ नही समझता। स्वभावका हमें पता नही चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। अतः आत्मा जब नीचेकी ओर जाय तब उसका प्रतिकार

करना कर्त्तव्य है। इसीसे नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयोंके संबंधमें इंद्रियोंको रागद्वेष रहता ही है। मनुष्यको उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यके मार्गके बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कानका विषय है सुनना। जो भावे वह सुननेकी इच्छा राग है। जो न भावे वह सुननेकी अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर राग-द्वेषके वश नहीं होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्माका स्वभाव सुख-दुःखसे अछूते रहना है। उस स्वभावतक मनुष्यको पहुंचना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

पराये धर्मके सुलभ होनेपर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्ममें मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाजमें एकका धर्म झाड़ देनेका होता है और दूसरेका धर्म हिसाब रखनेका होता है।

हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परंतु झाड़ देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा और समाजको हानि पहुंचेगी। ईश्वरके दरबारमें दोनोंकी सेवाका मूल्य उनकी निष्ठाके अनुसार कूता जायगा। पेशेकी कीमत वहां तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना कर्त्तव्य-पालन करें तो समानरूपसे मोक्षके अधिकारी बनते हैं।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

फिर यह पुरुष बलात्कारपूर्वक प्रेरित हुए की भांति, न चाहता हुआ भी, किसकी प्रेरणासे पाप करता है? ३६

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान बोले—

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महापापी है। इसे इस लोकमें शत्रुरूप समझो। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अंतरमें रहनेवाला काम कहिए या क्रोध कहिए वही है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएंसे आग या मैलसे दर्पण अथवा झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रुसे यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौंतेय! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्यका शत्रु है, उससे ज्ञानीका ज्ञान ढका हुआ है। ३९

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इंद्रियां, मन और बुद्धि, इस शत्रुके निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञानको ढककर यह शत्रु देहधारीको बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इंद्रियोंमें काम व्याप्त होनेपर मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञानका नाश होता है (देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियोंको नियममें रखकर ज्ञान और अनुभवका नाश करनेवाले इस पापीका त्याग अवश्य कर । ४१

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इंद्रियां सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है । जो बुद्धिसे भी अत्यंत सूक्ष्म है वह आत्मा है । ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियां वशमें रहें तो सूक्ष्म कामको जीतना सहज हो जाय ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे परे आत्माको पहचानकर और आत्माद्वारा मनको वश करके हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रुका संहार कर । ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्माको जान ले तो मन उसके वशमें रहेगा, इंद्रियोंके वशमें नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय।

: ४ :

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमे तीसरेका विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकारके कई यज्ञोंका वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। १

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परंपरासे प्राप्त, राजर्षियोंका जाना हुआ वह योग दीर्घकालके बलसे नष्ट हो गया । २

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है । कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्मकी बात है । ३

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वानका पहले हो चुका है । तब मैं कैसे जानूं कि आपने वह (योग) पहले कहा था ? ४

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूं, तू नहीं जानता। ५

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूतमात्र-का ईश्वर हूं; तथापि अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म ग्रहण करता हूं। ६

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब-जब धर्म मंद पड़ता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूं। ७

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश तथा धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूं। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धालुको आश्वासन है और सत्य-की—धर्मकी—अविचलताकी प्रतिज्ञा है। इस संसार-

में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परंतु अंतमें धर्मकी ही जय होती है। संतोंका नाश नहीं होता, क्योंकि सत्यका नाश नहीं होता। दुष्टोंका नाश ही है, क्योंकि असत्यका अस्तित्व नहीं है। मनुष्यको चाहिए कि इसका खयाल रखकर अपने कर्तापनके अभिमानके कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वरकी गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वरका जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वरका जन्मना होता ही नहीं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मका रहस्य जानता है वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्यका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्यकी ही जय कराता है तब वह सत्यको नहीं छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहनेके कारण जन्म-मरणके चक्करसे छूटकर ईश्वरका ही ध्यान धरते हुए उसीमें लय हो जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोधसे रहित हुए, मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुतोंने मेरे स्वरूपको पाया है। १०

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार मैं उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ! मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं––मेरे शासनमें रहते हैं। ११

टिप्पणी––तात्पर्य, कोई ईश्वरी नियमका उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है; जैसा करता है वैसा भरता है। ईश्वरी कानूनमें––कर्मके नियममें अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यताके अनुसार न्याय मिलता है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले इस लोकमें देवताओंको पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरंत मनुष्यलोकमें ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी––देवतासे मतलब स्वर्गमें रहनेवाले इंद्र-वरुणादि व्यक्तियोंसे नहीं है। देवताका अर्थ है

ईश्वरकी अंशरूपी शक्ति। इस अर्थमें मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियां देवता हैं। उनकी आराधना करनेका फल तुरंत और इस लोकमें मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक होता है। वह आत्माको ही संतोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहांसे सकता है ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्मके विभागानुसार चार वर्ण मैंने उत्पन्न किये हैं, उनका कर्ता होनेपर भी मुझे तू अविनाशी-अकर्ता जानना। १३

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते हैं। मुझे इनके फलकी लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे कर्मके बंधनमें नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्यके सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहनेका सर्वोत्तम दृष्टांत है। और सबका कर्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही हैं, तो फिर कर्तापनका अभिमान कैसे हो सकता है ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

ऐसे जानकर पूर्वकालमें मुमुक्षु व्यक्तियोंने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदासे करते आये हैं वैसे कर। १५

किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें समझदारोंको भी मोह हुआ है। उस कर्मके विषयमें मैं तुझे यथार्थरूपसे बतलाऊंगा। उसे जानकर तू अशुभसे बचेगा। १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।१७।।

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्मका भेद जानना चाहिए। कर्मकी गति गूढ़ है। १७

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।

कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगोंमें बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह संपूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है, और जो कर्मका बाहरसे त्याग करते हुए भी मनके महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंगको हिलाता है, तब हिलता है। वह बीमार अंगको हिलानेरूपी क्रियाका कर्ता बना। आत्माका गुण अकर्ता-का है। मोहग्रस्त होकर अपनेको कर्ता माननेवाले आत्माको मानो लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्मकी गतिको जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। 'मैं करता हूं' यह माननेवाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है और साधनके भले-बुरेका विचार नहीं करता। आत्माकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्गसे हटता है तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमानरहित पुरुषके कर्म स्वभावसे ही सात्त्विक होते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके समस्त आरंभ कामना और संकल्परहित

हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्निद्वारा भस्म हो गये हैं; ऐसेको ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं। १९

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

जिसने कर्मफलका त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रयकी लालसा नहीं है, वह कर्ममें अच्छी तरह लगे रहनेपर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नही करता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्मका बंधन भोगना नहीं पड़ता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वशमें है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर ही भर कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कुल कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होनेपर भी बंधन करनेवाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धिसे, बिना अभिमानके, होता है तब बंधनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यताको प्राप्त हो गया है, उसका शरीरभर ही कर्म करता है। सोते

हुए मनुष्यका शरीरभर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छासे हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छासे ईश्वरका कैदी बना है, उसका भी शरीरभर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो यथालाभसे संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता, निष्फलतामें तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधनमें नहीं पड़ता है। २२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं। २३

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(यज्ञमें) अर्पण ब्रह्म है, हवनकी वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमें हवन करनेवाला भी ब्रह्म है;

इस प्रकार कर्मके साथ जिसने ब्रह्मका मेल साधा है वह ब्रह्मको ही पाता है। २४

देवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओंका पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञको ही होमते हैं। २५

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और कितने ही श्रवणादि इंद्रियोंका संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ शब्दादि विषयोंको इंद्रियाग्निमें होमते हैं। २६

टिप्पणी—सुननेकी क्रिया इत्यादिका संयम करना एक बात है और इंद्रियोंको उपयोगमें लाते हुए उनके विषयोंको प्रभुप्रीत्यर्थ काममें लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः तो दोनों एक हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और कितने ही समस्त इंद्रियकर्मोंको और प्राण-कर्मोंको ज्ञानदीपकसे प्रज्वलित की हुई आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें होमते हैं। २७

टिप्पणी---अर्थात् परमात्मामें तन्मय हो जाते हैं ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं । कितने ही अष्टांग योग साधनेवाले होते हैं । कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं । ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं । २८

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कितने ही प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले अपानको प्राणवायुमें होमते हैं, प्राणको अपानमें होमते हैं अथवा प्राण और अपान दोनोंका अवरोध करते हैं । २९

टिप्पणी---ये तीन प्रकारके प्राणायाम हैं---रेचक, पूरक और कुंभक । संस्कृतमें प्राणवायुका अर्थ गुजराती-(और हिंदी)की अपेक्षा उलटा है । वहां प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली वायुको कहते हैं । हम बाहरसे जिसे अंदर खींचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

इसके सिवा दूसरे आहारका संयम करके प्राणोंको प्राणमें होमते हैं। यज्ञोंद्वारा अपने पापोंको क्षीण करनेवाले ये सब यज्ञके जाननेवाले हैं। ३०

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।३१।।

हे कुरुसत्तम ! यज्ञसे बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्मको पाते हैं। यज्ञ न करनेवालेके लिए यह लोक नहीं है तो परलोक तो हो ही कहांसे सकता है ? ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।३२।।

इस प्रकार वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन हुआ है। इन सबको कर्मसे उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्मका व्यापक अर्थ है। अर्थात शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्मके बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञोंका जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्माको प्रभुप्रीत्यर्थ—लोकसेवार्थ काममें न लावे तो वह चोर ठहरता है और

मोक्षके योग्य नहीं बन सकता। केवल बुद्धिशक्तिको ही काममें लावे और शरीर तथा आत्माको चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है। इन शक्तियोंको प्राप्त किये बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्म-शुद्धिके बिना लोकसेवा असंभव है। सेवकको शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनोंका समानरूपसे विकास करना कर्त्तव्य है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप ! द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ज्ञानमें ही पराकाष्ठाको पहुंचते हैं। ३३

टिप्पणी—परोपकारवृत्तिसे दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है ? अच्छी वृत्तिसे होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञानका मेल हो। इसलिए कर्ममात्रकी पूर्णाहुति तो ज्ञानमें ही है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसे तू तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोंकी सेवा करके

और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारंबार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे। ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करनेकी तीन शर्तें—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युगमें खूब ध्यानमें रखने योग्य हैं। प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बारंबार पूछना; सेवारहित नम्रता खुशामदमें शुमार हो सकती है। फिर, ज्ञान खोजके बिना संभव नहीं है, इसलिए जबतक समझमें न आवे तबतक शिष्यका गुरुसे नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासाकी निशानी है। इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जिसपर श्रद्धा नहीं होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती, उसकी सेवा तो हो ही कहांसे सकती है?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यह ज्ञान पानेके बाद हे पांडव! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञानके द्वारा तू भूतमात्रको आत्मामें और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन हो गया है वह अपनी और दूसरेकी आत्मामें भेद नहीं देखता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

तू समस्त पापियोंमें बड़े-से-बड़ा पापी होनेपर भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा सब पापोंको पार कर जायगा। ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देता है। ३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

ज्ञानके समान इस संसारमें दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योगमें—समत्वमें पूर्णताप्राप्त मनुष्य समयपर अपने-आपमें उस ज्ञानको पाता है। ३८

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-
मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान ईश्वरपरायण, जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परमशांतिको पाता है। ३९

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवानके लिए न तो यह लोक है, न परलोक। उसे कहीं सुख नहीं है। ४०

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

जिसने समत्वरूपी योगद्वारा कर्मोंको अर्थात् कर्म-फलका त्याग किया है और ज्ञानद्वारा संशयको छिन्न कर डाला है वैसे आत्मदर्शीको हे धनंजय ! कर्म बंधन-रूप नहीं होते। ४१

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

इसलिए हे भारत ! हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए संशयको आत्मज्ञानरूपी तलवारसे नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो। ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञानकर्म-संन्यासयोग' नामक चौथा अध्याय।

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमें बतलाया गया है कि कर्मयोगके बिना कर्मसंन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! कर्मोंके त्यागकी और फिर कर्मोंके योग-की आप स्तुति करते हैं । मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिये कि इन दोनोंमें श्रेयस्कर क्या है ? १

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मोंका त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं । उनमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग बढ़कर है । २

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि द्वंद्वसे मुक्त है, वह सहजमें बंधनोंसे छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य, कर्मका त्याग संन्यासका खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी, मिथ्याचारी हो सकता है। (देखो अध्याय ३, श्लोक ६)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एकमें अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनोंका फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोकसंग्रहरूपी कर्मयोगका विशेष फल संकल्पमात्रसे प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्तिके कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगीकी शांतिका अधिकारी अनायास बनता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता

है। जो सांख्य और योगको एक रूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है। ५

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! कर्मयोगके बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है, परंतु समभाववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है। ६

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसने योग साधा है, जिसने हृदयको विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियोंको जीता है और जो भूतमात्र-को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। ७

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आंख खोलते, मूंदते केवल इंद्रियां ही अपना काम करती हैं, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूं।' ८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयोंको मैं नहीं भोगता, इंद्रियां अपना काम करती हैं।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीताको समझता है और न धर्मको जानता है। यह बात नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पापसे उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानीमें रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे या केवल इंद्रियोंसे भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं। ११

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

समतावान कर्मफलका त्याग करके परमशांति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होनेके कारण

फलमें फंसकर बंधनमें रहता है। १२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

संयमी पुरुष मनसे सब कर्मोंका त्याग करके नव-द्वारवाले नगररूपी शरीरमें रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुखसे रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंखें, मल-त्यागके दो स्थान और मुख, शरीरके ये नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचाके असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजोंका चौकीदार यदि इनमें आने-जाने-वाले अधिकारियोंको ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहनेपर भी, उसका हिस्सेदार नहीं, बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जगतका प्रभु न कर्तापनको रचता है, न कर्म रचता हैं, न कर्म और फलका मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्मका नियम

अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसीमें ईश्वरकी महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्यायमें शुद्ध दया है। न्यायकी विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। अतः उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं निरंतर न्यायका पात्र बना हुआ क्षमाका याचक है। वह दूसरेका न्याय क्षमासे ही चुका सकता है। क्षमाके गुणका विकास करनेपर ही अंतमें अकर्ता—योगी—समतावान—कर्ममें कुशल बनता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसीके पाप या पुण्यको नहीं ओढ़ता। अज्ञानद्वारा ज्ञानके ढक जानेसे लोग मोहमें फंसते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञानसे, 'मैं करता हूं' इस वृत्तिसे मनुष्य कर्मबंधन बांधते हुए भी भले-बुरे फलका आरोप ईश्वरपर करता है, यह मोहजाल है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परंतु जिनके अज्ञानका आत्मज्ञानद्वारा नाश हो

गया है, उनका वह सूर्यके समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्वका दर्शन कराता है। १६

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

ज्ञानद्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वरका ध्यान धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं। १७

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्वान और विनयवान ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको खानेवाले मनुष्यमें ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडालके प्रति समभाव रखनेका अर्थ यह है कि ब्राह्मणको सांप काटनेपर उसके घावको जैसे ज्ञानी प्रेमभावसे चूसकर उसका विष दूर करनेका प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडालको भी सांप काटनेपर करेगा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि त स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्वमें स्थिर हो गया है उन्होंने इस देहमें रहते ही संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निष्क-लंक और समभावी है, इसलिए वे ब्रह्ममें ही स्थिर होते हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्वका चिंतन करके, दोषरहित होकर, समत्वके मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्मको जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रियको पाकर सुख नहीं मानता और अप्रियको पाकर दुःखका अनुभव नहीं करता। २०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयोंमें आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अंतःकरणमें जो आनंद भोगता है वह अक्षय आनंद पूर्वोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—अंतर्मुख होनेवाला ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनंद पाता है। विषयोंसे निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधिमें रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्केकी दो पीठें हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।२२।।

विषयजनित भोग अवश्य दुःखोंके कारण हैं। हे कौंतेय ! वे आदि और अंतवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें नही फंसता। २२

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।२३।।

देहांतके पहले जिस मनुष्यने इस देहसे ही काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्यने समत्वको पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीरको जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नही होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतसमान, जड़भरतकी भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसारमें विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुखको जानता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।२४।।

जिसे आंतरिक आनंद है, जिसके हृदयमें शांति है, जिसे निश्चितरूपसे अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्मनिर्वाण पाता है । २४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी शंकाएँ शांत हो गई हैं, जिन्होंने मनपर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्रके हितमें ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण पाते हैं । २५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

जो अपनेको पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोधको जीता है और जिन्होंने मनको वश किया है, ऐसे यतियोंको सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है । २६

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।२८।।

बाह्य विषयभोगोंका बहिष्कार करके, दृष्टिको

भृकुटीके बीचमें स्थिर करके, नासिकाद्वारा आने-जाने-वाले प्राण और अपान वायुकी गतिको एक समान रखकर, इंद्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके तथा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होकर जो मुनि मोक्ष-परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली और अपान बाहरसे अंदर जानेवाली वायु है। इन श्लोकोंमें प्राणायामादि यौगिक क्रियाओंका समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएँ हैं और उनका प्रभाव शरीरको स्वस्थ रखने और परमात्माके रहने-योग्य मंदिर बनानेतक ही परिमित है। भोगीका साधारण व्यायामादिसे जो काम निकलता है, वही योगीका प्राणायामादिसे निकलता है। भोगीके व्याया-मादि उसकी इंद्रियोंको उत्तेजित करनेमें सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगीके शरीरको नीरोगी और कठिन बनानेपर भी, इंद्रियोंको शांत रखनेमें सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादिकी विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इंद्रिय, मन और बुद्धिपर अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्षकी उत्कट अभिलाषा है, जिसने राग-

द्वेषादिको जीतकर भयको छोड़ दिया है, उसे प्राणा-यामादि उपयोगी और सहायक होते हैं। अंतः-शौचरहित प्राणायामादि बंधनका एक साधन बनकर मनुष्यको मोहकूपमें अधिक नीचे ले जा सकते हैं—ले जाते हैं, ऐसा बहुतोंका अनुभव है। इससे योगींद्र पतंजलिने यम-नियमको प्रथम स्थान देकर उसके साधकके लिए ही मोक्षमार्गमें प्राणायामादिको सहायक माना है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

यज्ञ और तपके भोक्ता, सर्वलोकके महेश्वर और भूतमात्रके हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकोंका यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्यकी भाषासे वह अतीत है। इससे उसमें परस्परविरोधी गुणों और शक्तियोंका भी

आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकीकी आशा रखता है ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्म संन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय ।

: ६ :

ध्यानयोग

इस अध्यायमें योगसाधनके—समत्व प्राप्त करनेके—कितने ही साधन बतलाये गये हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है । जो अग्नि-

का और समस्त क्रियाओंका त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं । १

टिप्पणी—अग्निसे तात्पर्य है साधनमात्र । जब अग्निके द्वारा होम होते थे तब अग्निकी आवश्यकता थी । इस युगमें यदि चरखेको सेवाका साधन मानें तो उसका त्याग करनेसे संन्यासी नहीं हुआ जा सकता ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे पांडव ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान । जिसने मनके संकल्पोंको त्यागा नहीं वह कभी योगी नहीं हो सकता । २

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योग साधनेवालेको कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शांति साधन है । ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है । इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़को लोकसंग्रहके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती । लोकसंग्रहके बिना तो वह जी ही नहीं सकता । अतः सेवाकर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है ।

वह दिखावेके लिए कुछ नहीं करता। (अध्याय ३, ४ अध्याय ५, २ से मिलाइए)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। ४ ।।

जब मनुष्य इंद्रियोंके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ५ ।।

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्माका बंधु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। ५

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। ६ ।।

उसीका आत्मा बंधु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है। जिसने आत्माको जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रुका-सा बर्ताव करता है। ६

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।। ७ ।।

जिसने अपना मन जीता है और जो संपूर्ण रूपसे शांत हो गया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मान-अपमानमें समान रहता है। ७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जो ज्ञान और अनुभवसे तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंको जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है । ८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनोंका भला चाहनेवाला, द्वेषी, बंधु और साधु तथा पापी इन सबमें जो समानभाव रखता है वह श्रेष्ठ है । ९

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रहका त्याग करके, अकेला एकांतमें रहकर योगी निरंतर आत्माको परमात्माके साथ जोड़े । १०

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थानमें, न बहुत नीचा, न बहुत ऊंचा

ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर स्थिर आसन अपने लिए करके, वहां एकाग्र मनसे बैठकर चित्त और इंद्रियोंको वश करके आत्मशुद्धिके लिए योग साधे। ११-१२

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, गर्दन और सिर एक सीधमें अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शांतिसे, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहकर, मनको मारकर मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। १३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्रसे मतलब है भृकुटीके बीचका भाग। (देखो अध्याय ५-२७।) ब्रह्मचारीव्रतका अर्थ केवल वीर्यसंग्रह ही नहीं है, बल्कि ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार जिसका मन नियममें है ऐसा योगी

आत्माको परमात्माके साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्तिमें मिलनेवाली मोक्षरूपी परम शांति प्राप्त करता है। १५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूंसकर खानेवालेको, न उपवासीको, वैसे ही, वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवालेको प्राप्त नहीं होता। १६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो मनुष्य अहार-विहारमें, दूसरे कर्मोंमें, सोने-जागनेमें परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है। १७

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मामें स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओंसे निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है। १८

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

आत्माको परमात्माके साथ जोड़नेका प्रयत्न करनेवाले स्थिरचित्त योगीकी स्थिति वायुरहित स्थानमें अचल रहनेवाले दीपककी-सी कही गई है। १९

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

योगके सेवनसे अंकुशमें आया हुआ मन जहां शांति पाता है, आत्मासे ही आत्माको पहचानकर आत्मामें जहां मनुष्य संतोष पाता है और इंद्रियोंसे परे और बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य अनंत सुखका जहां अनुभव होता है, जहां रहकर मनुष्य मूलवस्तुसे चलायमान नहीं होता और जिसे पानेपर दूसरे किसी लाभको वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःखसे भी डगमगाता नहीं, उस दुःखके प्रसंगसे रहित स्थितिका नाम योगकी स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़तापूर्वक साधने योग्य है। २०-२३

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओंका पूर्ण रूपसे त्याग करके, मनसे ही इंद्रियसमूहको सब ओरसे भलीभांति नियममें लाकर अचल बुद्धिसे योगी धीरे-धीरे शांत होता जाय और मनको आत्मामें पिरोकर, दूसरी किसी बातका विचार न करे।

४२-२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

जहां-जहां चंचल और अस्थिर मन भागे, वहां-वहांसे (योगी) उसे नियममें लाकर अपने वशमें लावे। २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन भलीभांति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलतासे ब्रह्मप्राप्तिरूप अनंत सुखका अनुभव करता है । २८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२९।।

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतोंमें और सब भूतोंको अपनेमें देखता है । २९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता । ३०

सर्वभूतस्थित यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।३१।।

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्रमें रहनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है । ३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है; 'आप' मिट जानेपर—शून्य होनेपर ही एक परमात्माको सर्वत्र देखता है । (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिये ।)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनोंको समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है । ३२

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चंचलताके कारण नहीं देख पाता । ३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

क्योंकि हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्यको मथ डालता है और बड़ा बलवान है । जैसे वायुको दबाना बहुत कठिन है वैसे मनका वश करना भी मैं कठिन मानता हूं । ३४

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! सच है कि मन चंचल होनेके कारण वश करना कठिन है । पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वश किया जा सकता है । ३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वशमें नही है, उसके लिए योग साधना बड़ा कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान है वह उपाय-द्वारा साध सकता है । ३६

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।३७।।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्नमें मंद होनेके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न

पानेपर कौन-सी गति पाता है ? ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो ! योगसे भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्गमें भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलोंकी भांति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरा यह संशय दूर करनेमें आप समर्थ हैं । आपके सिवा दूसरा कोई इस संशयको दूर करनेवाला नहीं मिल सकता । ३९

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! ऐसे मनुष्योंका नाश न तो इस लोकमें होता है, न परलोकमें । हे तात ! कल्याणमार्गमें जानेवालेकी कभी दुर्गति होती ही नहीं । ४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।४१।।

पुण्यशाली लोगोंको मिलनेवाले स्थानको पाकर और वहां बहुत समयतक रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधनवालेके घर जन्म लेता है। ४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।४२।।

या ज्ञानवान योगीके ही कुलमें वह जन्म लेता है। संसारमें ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है। ४२

तत्र त बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

हे कुरुनंदन ! वहां उसे पूर्व जन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिए आगे बढ़ता है। ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

उसी पूर्वाभ्यासके कारण वह अवश्य योगकी ओर खिंचता है। योगका जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करनेवालेकी स्थितिको पार कर जाता है। ४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

लगनसे प्रयत्न करता हुआ योगी पापसे छूटकर अनेक जन्मोंसे विशुद्ध होता हुआ परम गतिको पाता है। ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वीसे योगी अधिक है, ज्ञानीसे भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकांडीसे वह अधिक है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन। ४६

टिप्पणी—यहां तपस्वीकी तपस्या फलेच्छायुक्त है। ज्ञानीसे मतलब अनुभवज्ञानीसे नहीं है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सारे योगियोंमें भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय।

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

इस अध्यायमें यह समझाना आरंभ किया गया है कि ईश्वरतत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरेमें मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्णरूपसे मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन। १

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अनुभवयुक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्णरूपसे कहूंगा। इसे जाननेके बाद इस लोकमें अधिक कुछ जाननेको नहीं रह जाता। २

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई ही सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी कोई ही मुझे वास्तविक रूपसे पहचानता है। ३

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव—यह आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। (देखो अध्याय १३—५; और अध्याय १५—१६।)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह अपरा प्रकृति हुई। इससे भी ऊंची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है। हे महाबाहो ! यह जगत उसके आधारपर निभ रहा है। ५

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनोंको जान। समूचे जगतकी उत्पत्ति और लयका कारण मैं हूं। ६

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागेमें मनके पिरोये हुए रहते हैं वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। ७

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे कौंतेय ! जलमें रस मैं हूं, सूर्य-चंद्रमें तेज मैं हूं; सब वेदोंमें ओंकार मैं हूं, आकाशमें शब्द मैं हूं और पुरुषोंका पराक्रम मैं हूं। ८

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें सुगंध मैं हूं, अग्निमें तेज मैं हूं, प्राणीमात्र-का जीवन मैं हूं, तपस्वीका तप मैं हूं। ९

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! समस्त जीवोंका सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वीका तेज मैं हूं। १०

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवानका काम और रागरहित बल मैं हूं और हे भरतर्षभ ! प्राणियोंमें धर्मका अविरोधी काम मैं हूं। ११

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो-जो सात्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान । परंतु मैं उनमें हूं, ऐसा नहीं है, वे मुझमें हैं । १२

टिप्पणी—इन भावोंपर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधारपर हैं, रहते हैं और उसके वशमें हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणी भावोंसे सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशीको—वह नहीं पहचानता । १३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी मायाका तरना कठिन है; पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया-को तर जाते हैं । १४

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं

आते। वे आसुरीभाववाले होते हैं और मायाद्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है। १५

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन! चार प्रकारके सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्तिकी इच्छावाले और ज्ञानी। १६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें जो नित्य समभावी एकको ही भजनेवाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानीको अत्यंत प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि मुझे पानेके सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मोंके अंतमें ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेवमय है, यों जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओंसे जिन लोगोंका ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न विधिका आश्रय लेकर दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं। २०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूपकी भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूपमें उसकी श्रद्धाको मैं दृढ़ करता हूं। २१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूपकी वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाएं पूरी करता है। २२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

उन अल्प बुद्धिवालोंको जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओंको भजनेवाले देवताओंको

पाते हैं, मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २३

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूपको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इंद्रियोंसे अतीत मुझको इंद्रियगम्य मानते हैं। २४

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपनी योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत मुझ अजन्मा और अव्ययको भलीभांति नहीं पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगतको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होनेके कारण परमात्माके अदृश्य रहनेका जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन! जो हो चुके हैं, जो है और होनेवाले सभी भूतोंको मैं जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:खादि द्वंद्वके मोहसे प्राणीमात्र इस जगतमें मोहग्रस्त रहते हैं। २७

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पर जिन सदाचारी लोगोंके पापोंका अंत हो चुका है और जो द्वंद्वके मोहसे मुक्त हो गये हैं वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरणसे मुक्त होनेका प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्मको, अध्यात्मको और अखिल कर्मको जानते हैं। २९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्वको पाये हुए मुझे मृत्युके समय भी पहचानते हैं। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादिका अर्थ आठवें अध्यायमें आता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि इस संसारमें ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है और

समस्त कर्मोंका कर्ता-भोक्ता वह है, ऐसा समझकर जो मृत्युके समय शांत रहकर ईश्वरमें ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती, उसने ईश्वरको पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सातवां अध्याय।

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्यायमें ईश्वरतत्त्वको विशेषरूपसे समझाया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम! इस ब्रह्मका क्या स्वरूप है?

अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ? १

अधियज्ञ: कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि: ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्युके समय किस तरह पहचान सकता है ? २

श्रीभगवानुवाच

अक्षर ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित: ॥ ३ ॥

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणी-मात्रमें अपनी सत्तासे जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है । ३

अधिभूतं क्षरो भाव: पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है । अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है । और हे मनुष्य-

श्रेष्ठ ! अधियज्ञ इस शरीरमें स्थित किंतु यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्मसे लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही है और सब उसीकी कृति है। तब फिर मनुष्यप्राणी स्वयं कर्तापनका अभिमान रखनेके बदले परमात्माका दास बनकर सब कुछ उसे समर्पण क्यों न करे ?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अंतकालमें मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह-त्याग करता है वह मेरे स्वरूपको पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ५

यं यं वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अथवा तो हे कौंतेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूपका ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूपको अंतकालमें भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूपको पाता है। ६

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह;

इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखनेसे अवश्य मुझे पावेगा । ७

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! चित्तको अभ्याससे स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है । ८

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो मनुष्य मृत्युकालमें अचल मनसे, भक्तिसे युक्त होकर और योगबलसे भृकुटीके बीचमें अच्छी तरह प्राणको स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्यके समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अंधकारसे पर स्वरूपका ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है । ९-१०

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नामसे वर्णन करते हैं, जिसमें वीतराग मुनि प्रवेश करते हैं और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदका संक्षिप्त वर्णन मैं तुझसे करूंगा । ११

सर्वद्वाराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इंद्रियोंके सब द्वारोंको रोककर, मनको हृदयमें ठहराकर, मस्तकमें प्राणको धारण करके समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्मका उच्चारण और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगतिको पाता है । १२-१३

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य

और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमें पाता है। १४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे पाकर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा दुःखके घर अशाश्वत पुनर्जन्मको नहीं पाते । १५

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कौंतेय ! ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक फिर-फिर आनेवाले हैं; परंतु मुझे पानेके बाद मनुष्यको फिर जन्म नहीं लेना होता । १६

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हजार युगतकका ब्रह्माका एक दिन और हजार युगतककी ब्रह्माकी एक रात, जो जानते हैं वे रातदिनके जाननेवाले हैं । १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घंटेके रात-दिन कालचक्रके अंदर एक क्षणसे भी सूक्ष्म हैं । उनकी कोई गिनती नहीं है । इसलिए उतने समयमें मिलनेवाले भोग आकाश-पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओरसे उदासीन रहना चाहिए और

उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्तिमें, सेवामें, व्यतीतकर सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

(ब्रह्माका) दिन आरंभ होनेपर सब अव्यक्तमेंसे व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उनका प्रलय होता है, अर्थात् अव्यक्तमें लय हो जाते हैं । १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्यको समझना चाहिए कि उसके हाथमें बहुत थोड़ी सत्ता है । उत्पत्ति और नाशका जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! यह प्राणियोंका समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर, रात पड़नेपर बरबस लय होता है और दिन उगनेपर उत्पन्न होता है । १९

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

इस अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियोंका नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नहीं होता। २०

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पानेके बाद लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता, वह मेरा परमधाम है। २१

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे होते हैं। इसमें भूतमात्र स्थित हैं और यह सब उससे व्याप्त है। २२

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है वह काल हे भरतर्षभ ! मैं तुझसे कहूंगा। २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उत्तरायणके छः महीनोंमें, शुक्लपक्षमें, दिनको

जिस समय अग्निकी ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मको पाता है। २४

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति-
र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दक्षिणायनके छः महीनोंमें, कृष्णपक्षमें, रात्रिमें, जिस समय धुआं फैला हुआ हो उस समय मरनेवाले चंद्रलोकको पाकर पुनर्जन्म पाते हैं। २५

टिप्पणी—ऊपरके दो श्लोक मैं पूरी तौरसे नहीं समझता। उनके शब्दार्थका गीताकी शिक्षाके साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षाके अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्गको सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकोंका शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकारमें ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्युके समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान

नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चंद्रलोक अर्थात् क्षणिक लोकको पाकर फिर संसार-चक्रमें लौटता है। चंद्रके निजी ज्योति नहीं है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगतमें ज्ञान और अज्ञानके ये दो परंपरासे चलते आये मार्ग माने गये हैं। एक अर्थात् ज्ञानमार्गसे मनुष्य मोक्ष पाता है और दूसरे अर्थात् अज्ञानमार्गसे उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। २६

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंका जाननेवाला कोई भी योगी मोहमें नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन! तू सर्वदा योगयुक्त रहना। २७

टिप्पणी—दोनों मार्गोंका जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अंधकारका—अज्ञानका मार्ग नहीं पकड़ता, इसीका नाम है मोहमें न पड़ना।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

यह वस्तु जान लेनेके बाद वेदमें, यज्ञमें, तपमें और

दानमें जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदिस्थान पाता है। २८

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्मसे समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्यों-का फल ही मिल जाता है, बल्कि उसे परम मोक्षपद मिलता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'अक्षर-ब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय।

: ९ :

राजविद्याराजगुह्ययोग

इसमें भक्तिकी महिमा गाई है।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

तू द्वेषरहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभव-

युक्त ज्ञान दूंगा, जिसे जानकर तू अकल्याणसे बचेगा। १

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

विद्याओंमें यह राजा है गूढ़ वस्तुओंमें भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य, धार्मिक, आचारमें लानेमें सहज और अविनाशी है। २

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस धर्ममें जिन्हें श्रद्धा नहीं है, ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्गमें बारंबार ठोकर खाते हैं। ३

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मेरे अव्यक्त स्वरूपसे यह समूचा जगत भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधारपर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधारपर नहीं हूं। ४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवोंका

पालन करनेवाला हूं, फिर भी मैं उनमें नहीं हूं। परंतु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूं। ५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं। उनमें मैं हूं और नहीं हूं। यह ईश्वरका योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वरका वर्णन भगवानको भी मनुष्यकी भाषामें ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकारके भाषा-प्रयोग करके उसे संतोष देते हैं। ईश्वरमय सब है, इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परंतु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं उनमें उसकी दृष्टिसे तो वह नहीं है। और इसे उसके चमत्कारके सिवा और क्या कहा जाय?

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु नित्य आकाशमें विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा जान। ६

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कौंतेय! सारे प्राणी कल्पके अंतमें मेरी प्रकृतिमें

लय पाते हैं और कल्पका आरंभ होनेपर मैं उन्हें फिर रचता हूं । ७

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी मायाके आधारसे मैं इस प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले प्राणियोंके सारे समुदायको बारंबार उत्पन्न करता हूं । ८

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! ये कर्म मुझे बंधन नहीं करते, क्योंकि मैं उनमें उदासीनके समान और आसक्तिरहित बर्तता हूं । ९

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मेरे अधिकारके नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगतको उत्पन्न करती है और इस हेतु, हे कौंतेय ! जगत घटमाल (रहँट)की भांति घूमा करता है । १०

अवजानन्ति मा मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

प्राणीमात्रका महेश्वररूप जो मैं हूं उसके भावको न जानकर मूर्ख लोग मझ मनुष्य-तनधारीकी अवज्ञा करते हैं । ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वरकी सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामीको नहीं पहचानते और उसके अस्तित्वको न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरी चैव प्रकृति मोहिनी श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोहमें डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। १२

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

इससे विपरीत, हे पार्थ! महात्मालोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर प्राणीमात्रके आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकर एकनिष्ठासे भजते हैं। १३

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्तिसे नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। १४

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे लोग अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे अथवा बहुरूपसे सब कहीं रहनेवाले मुझको ज्ञानद्वारा पूजते हैं। १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यज्ञका संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञद्वारा पितरोंका आधार मैं हूं, यज्ञकी वनस्पति मैं हूं, मंत्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन-द्रव्य मैं हूं। १६

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगतका पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। १७

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भंडार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूं। १८

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

धूप मैं देता हूं, वर्षाको मैं ही रोक रखता और

बरसने देता हूं। अमरता मैं हूं, मृत्यु मैं हूं और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हूं। १९

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीन वेदके कर्म करनेवाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग मांगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएं फल-प्राप्तिके लिए की जाती थीं और उनमेंसे कई क्रियाओंमें सोमपान होता था, उसका यहां उल्लेख है। वे क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तवमें कोई नहीं कह सकता।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

इस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर वे पुण्यका क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमें वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेदके कर्म करनेवाले फलकी इच्छा रखनेवाले

जन्ममरणके चक्कर काटा करते हैं। २१

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगीको पहचाननेके तीन सुंदर लक्षण हैं—समत्व, कर्ममें कौशल, अनन्यभक्ति। ये तीनों एक-दूसरेमें ओतप्रोत होने चाहिए। भक्तिके बिना समत्व नहीं मिलता, समत्वके बिना भक्ति नहीं मिलती और कर्म-कौशलके बिना भक्ति तथा समत्वका आभासमात्र होनेका भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको संभालकर रखना।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और हे कौंतेय ! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताको भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझे एक निरंजन निराकारको न जानकर।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जो मैं ही सब यज्ञोंका भोगनेवाला स्वामी हूं, उसे वे सच्चे स्वरूपमें नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

यान्ति देवव्रता देवान्
पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंका पूजन करनेवाले देवलोकोंको पाते हैं, पितरोंका पूजन करनेवाले पितृलोकको पाते हैं, भूत-प्रेतादिको पूजनेवाले उन लोकोंको पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्यद्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणीमें रहनेवाले अंतर्यामीरूपसे भगवान ही ग्रहण करते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिए हे कौंतेय ! जो करे, जो खाय, जो हवनमें होमे, जो तू दानमें दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना । २७

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मबंधनसे छूट जायगा और फलत्यागरूपी समत्वको पाकर, जन्ममरण-से मुक्त होकर मुझे पावेगा । २८

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूं । मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है । जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं । २९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए; क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है । ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्यभक्ति दुराचारको शांत कर देती है ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है । हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता । ३१

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

फिर हे पार्थ ! जो पापयोनि हों वे भी और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परमगति पाते हैं । ३२

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं, उनका तो कहना ही क्या है ? इसलिए इस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्मकर तू मुझे भज । ३३

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर

आत्माको मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा । ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'राज-विद्याराजगुह्ययोग' नामक नवां अध्याय ।

: १० :

विभूतियोग

सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें भक्ति आदिका निरूपण करनेके बाद भगवान अपनी अनंत विभूतियोंका कुछ दिग्दर्शन भक्तके लिए कराते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! फिर मेरा परम वचन सुन । यह मैं तुझ प्रियजनको तेरे हितके लिए कहूंगा । १

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

देव और महर्षि मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवोंका और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि कारण हूं । २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

मृत्युलोकमें रहता हुआ जो ज्ञानी लोकोंके महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूपमें जानता है वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । ३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रिय-निग्रह, शांति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश, इस प्रकार प्राणियोंके भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं । ४-५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सप्तर्षि, उनके पहले सनकादिक चार और (चौदह) मनु मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए और उनमेंसे ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है, इसमें संशय नहीं है। ७

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं। ८

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरेको बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंदमें रहते हैं। ९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालोंको और मुझे

प्रेमसे भजनेवालोंको में ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर दया करके उनके हृदयमें स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अंधकारका नाश करता हूं। ११

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले—

हे भगवान! आप परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परमपवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान ! आपके स्वरूपको न देव जानते हैं न दानव । १४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवोंके पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगतके स्वामी ! आप स्वयं ही अपनेद्वारा अपनेको जानते हैं । १५

वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोका-
निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

जिन विभूतियोंके द्वारा इन लोकोंमें आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियां पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए । १६

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! आपका नित्य चिंतन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं ? हे भगवान् ! किस-किस रूपमें आपका चिंतन करना चाहिए ? १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूतिका वर्णन मुझसे फिर विस्तारपूर्वक कीजिए । आपकी अमृत-मय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति होती ही नहीं । १८

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा । उनके विस्तारका अंत तो है ही नहीं । १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! मैं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान आत्मा हूं । मैं ही भूतमात्रका आदि, मध्य और अंत हूं । २०

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्योंमें विष्णु मैं हूं, ज्योतियोंमें जगमगाता

सूर्य मैं हूं, वायुओंमें मरीचि मैं हूं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं हूं। २१

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदोंमें सामवेद मैं हूं, देवोंमें इंद्र मैं हूं, इंद्रियोंमें मन मैं हूं और प्राणियोंका चेतन मैं हूं। २२

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रोंमें शंकर मैं हूं, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूं, वसुओंमें अग्नि मैं हूं, पर्वतोंमें मेरु मैं हूं। २३

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ! पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति मुझे समझ। सेनापतियोंमें कार्तिक स्वामी मैं हूं और सरोवरोंमें सागर मैं हूं। २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियोंमें भृगु मैं हूं, वाणीमें एकाक्षरी ॐ मैं हूं, यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूं और स्थावरोंमें हिमालय मैं हूं। २५

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सब वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल) मैं हूं, देवर्षियोंमें नारद मैं हूं, गंधर्वोंमें चित्ररथ मैं हूं और सिद्धोंमें कपिल-मुनि मैं हूं। २६

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वोंमें अमृतमेंसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मैं हूं। २७

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

हथियारोंमें वज्र मैं हूं, गायोंमें कामधेनु मैं हूं, प्रजाकी उत्पत्तिका कारण कामदेव मैं हूं, सर्पोंमें वासुकि मैं हूं। २८

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें शेषनाग मैं हूं, जलचरोंमें वरुण मैं हूं, पितरों-में अर्यमा मैं हूं और दंड देनेवालोंमें यम मैं हूं। २९

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूं, गिननेवालोंमें काल मैं हूं, पशुओंमें सिंह मैं हूं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूं। ३०

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पावन करनेवालोंमें पवन मैं हूं, शस्त्रधारियोंमें परशुराम मैं हूं, मछलियोंमें मगरमच्छ मैं हूं, नदियोंमें गंगा मैं हूं। ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि, अंत और मध्य मैं हूं, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं हूं और विवाद करने-वालोंका वाद मैं हूं। ३२

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षरोंमें अकार मैं हूं, समासोंमें द्वंद्व मैं हूं, अविनाशी काल मैं हूं और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हूं। ३३

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूं, भविष्यमें उत्पन्न होनेवालेका उत्पत्तिकारण मैं हूं और नारी जातिके नामोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूं। ३४

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामोंमें बृहत् (बड़ा) साम मैं हूं, छंदोंमें गायत्री छंद मैं हूं। महीनोंमें मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओंमें बसंत मैं हूं। ३५

द्यूत छलयतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वस त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवालेका द्यूत मैं हूं, प्रतापीका प्रभाव मैं हूं, जय मैं हूं, निश्चय मैं हूं, सात्त्विक भाववालेका सत्त्व मैं हूं। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालोंका द्यूत मैं हूं, इस वचनसे भड़कनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां सारासारका निर्णय नहीं है, किंतु जो कुछ होता है वह बिना ईश्वरकी मर्जीके नहीं होता, यह बतलाना है और सब उसके अधीन हैं, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोड़कर छल त्यागे।

वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि पाण्डवाना धनंजयः ।
मुनीनामप्यह व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिकुलमें वासदेव मैं हूं, पांडवोंमें धनंजय (अर्जुन) मैं हूं, मुनियोंमें व्यास मैं हूं और कवियोंमें उशना मैं हूं। ३७

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

शासकका दंड मैं हूं, जय चाहनेवालोंकी नीति मैं हूं, गुह्य बातोंमें मौन मैं हूं और ज्ञानवानका ज्ञान मैं हूं। ३८

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूं। जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है। ३९

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत ही नहीं है। विभूतियोंका विस्तार मैंने केवल दृष्टांतरूपसे ही बतलाया है। ४०

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझ। ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है । अपने एक अंशमात्रसे इस समूचे जगतको धारण करके मैं विद्यमान हूं । ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विभूतियोग' नामक दसवां अध्याय ।

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

इस अध्यायमें भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुनको बतलाते हैं । भक्तोंको यह अध्याय बहुत प्रिय है । इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है । इस अध्यायका पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं ।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम

रहस्य कहा है। आपके मुझसे कहे हुए इन वचनोंसे मेरा यह मोह टल गया है! १

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, और नाशके संबंधमें आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना। २

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर! आप जैसा अपनेको पहिचनवाते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम! आपके उस ईश्वरी रूपके दर्शन करनेकी मुझे इच्छा होती है। ३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो! वह दर्शन करना मेरे लिए आप संभव मानते हैं तो हे योगेश्वर! उस अव्यय रूपका दर्शन कराइये। ४

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख । वे नाना प्रकारके, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृति-वाले हैं । ५

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनी-कुमारों और मरुतोंको देख । पहले न देखे गये, ऐसे बहुतसे आश्चर्योंको तू देख । ६

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश ! यहां मेरे शरीरमें एकरूपसे स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख । ७

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

इन अपने चर्मचक्षुओंसे तू मुझे नहीं देख सकता । तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं । तू मेरा ईश्वरीय योग देख । ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजयने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्णने ऐसा कहकर पार्थको अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया । ९

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक अद्‌भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रोंवाला था । १०

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण कर रखे थे, उसके दिव्य सुगंधित लेप लगे हुए थे । ऐसा वह सर्वप्रकारसे आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव था । ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाशमें हजार सूर्योंका तेज एकसाथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्माके तेज-जैसा कदाचित हो । १२

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

वहां इस देवाधिदेवके शरीरमें पांडवने अनेक

प्रकारसे विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूपमें विद्यमान देखा । १३

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

फिर आश्चर्यचकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देहमें मैं देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके सब प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासनपर विराजमान ईश ब्रह्माको, सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं । १५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर! आपके विश्व-रूपका मैं दर्शन कर रहा हूं। १६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेजके पुंज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाईसे दिखाई देनेवाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्यके समान सभी दिशाओंमें देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आपको मैं जाननेयोग्य परम अक्षररूप, इस जगत-का अंतिम आधार, सनातन धर्मका अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्यचंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्निके समान है और जो अपने तेजसे इस जगतको तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। १९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अंतरमें और समस्त दिशाओंमें आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन् ! यह आपका अद्‌भुत उग्ररूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

और यह देवोंका संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धोंका समुदाय '(जगतका)

कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकारसे आपका यश गा रहा है। २१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनी-कुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गंधर्व, यक्ष असुर और सिद्धोंका संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो! बहुत मुख और आंखोंवाला, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाला, बहुत पेटोंवाला और बहुत दाढ़ोंके कारण विकराल दीखनेवाला विशाल रूप देख-कर लोक व्याकुल हो गए हैं। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

आकाशका स्पर्श करते, जगमगाते अनेक रंगोंवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर हे विष्णु ! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शांति नहीं रख सकता। २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

प्रलयकालके अग्निके समान और विकराल दाढ़ोंवाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं जान पड़ती हैं, न शांति मिलती है। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइए। २५

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

सब राजाओंके संघसहित,* धृतराष्ट्रके ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुखमें वेग-पूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनोंके ही सिर चूर होकर आपके दांतोंके बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस प्रकार नदियोंकी बड़ी धाराएँ समुद्रकी ओर दौड़ती हैं उस प्रकार आपके धधकते हुए मुखमें ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जलते हुए दीपकमें जैसे पतंग बढ़ते हुए वेगसे पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुखमें भी सब लोग बढ़ते हुए वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। २९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

सब लोकोंको सब ओरसे निगलकर आप अपने धधकते हुए मुखसे चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगतको तेजसे पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर ! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूं। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान बोले—

लोकोंका नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूं।

लोकोंका नाश करनेके लिए यहां आया हूं । प्रत्येक सेनामें जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमेंसे कोई तेरे लड़नेसे इनकार करनेपर भी बचनेवाला नहीं है । ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्तकर, शत्रुको जीतकर धनधान्यसे भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहलेसे ही मार रखा है । हे सव्यसाची ! तू तो केवल निमित्तरूप बन । ३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं-को मैं मार ही चुका हूं । उन्हें तू मार। डर मत, लड़ । शत्रुको तू रणमें जीतनेको है । ३४

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजयने कहा—

केशवके ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते, बारं-बार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन श्रीकृष्णसे गद्गद् कंठसे इस प्रकार बोले। ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे हैं और सिद्धोंका सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है। ३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! वे आपको क्यों नमस्कार न करें ? आप ब्रह्मासे भी बड़े आदिकर्ता हैं । हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं । ३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदिदेव हैं । आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्वके परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं । हे अनंतरूप ! इस जगतमें आप व्याप्त हो रहे हैं । ३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं । आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे और

फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं। ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इस प्रकार संबोधन कर मुझसे भूलमें या प्रेममें भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् सोह-बतमें आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा

करनेके लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं। ४१-४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

स्थावरजंगम जगतके आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहांसे हो सकता है? तीनों लोकमें आपके सामर्थ्यका जोड़ नहीं है। ४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! जिस तरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करने योग्य हैं। ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोएं खड़े हो गये हैं और भयसे मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव! अपना पहलेका रूप दिखलाइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइए। ४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

पूर्वकी भांति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारीका दर्शन करना चाहता हूं! हे सहस्रबाहु! हे विश्वमूर्ति! अपना चतुर्भुजरूप धारण कीजिए। ४६

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्तिसे अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम,

आदिरूप दिखाया है। यह तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। ४७

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! वेदाभ्यास से, यज्ञसे, अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे, या उग्र तपोंसे तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखनेमें समर्थ नहीं है। ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोहमें मत पड़। डर छोड़कर शांतचित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख। ४९

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजयने कहा—

यों वासुदेवने अर्जुनसे कहकर अपना रूप फिर दिखाया और फिर शांत मूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुनको उस महात्माने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देखकर अब मैं शांत हुआ हूं और ठिकाने आ गया हूं। ५१

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान बोले—

जो मेरा रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखनेको तरसते रहते हैं। ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेदसे, न तपसे, न दानसे अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं। ५३

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंधमें ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्तिसे ही संभव है। ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमें द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवां अध्याय।

: १२ :

भक्तियोग

पुरुषोत्तमके दर्शन अनन्यभक्तिसे ही होते हैं, भगवानके इस वचनके बाद तो भक्तिका स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवां अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-से-छोटे अध्यायोंमें एक है। इसमें दिये हुए भक्तके लक्षण नित्य-मनन करनेयोग्य हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरंतर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूपका ध्यान धरते हैं, उनमेंसे कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा ? १

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले—

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। २

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

सब इंद्रियोंको वशमें रखकर, सर्वत्र समत्वका पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिंत्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियोंके हितमें लगे हुए मुझे ही पाते हैं। ३-४

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गतिको देहधारी कष्टसे ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूप-के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे संतोष करना ठहरा।

इस दृष्टिसे मूर्तिपूजाका निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म-रीतिसे विचारा जाय तो मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करना, मंदिरमें जाकर पूजा करना, एक ही दिशामें मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके लक्षण हैं। तथापि साकारके उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेनेमें ही निस्तार है। भक्तिकी पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवानमें विलीन हो जाय और अंतमें केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति-को साकारद्वारा सुलभतासे पहुंचा जा सकता है, इसलिए निराकारको सीधे पहुंचनेका मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

परंतु हे पार्थ ! जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागरसे मैं झटपट पार कर लेता हूं। ६-७

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा । ८

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करनेमें असमर्थ हो तो हे धनंजय ! अभ्यासयोगद्वारा मुझे पानेकी इच्छा रखना । ९

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

ऐसा अभ्यास रखनेमें भी तू असमर्थ हो तो कर्म-मात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा । १०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करनेभरकी भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोंके फलका त्याग कर । ११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्यासमार्गसे ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग विशेष है और ध्यानमार्गसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि इस त्यागके अंतमें तुरंत शांति ही होती है। १२

टिप्पणी--अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोधकी साधना; ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि; ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फलस्वरूप यदि कर्मफलत्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणीमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान, सदा संतोषी, योगयुक्त, इंद्रियनिग्रही और दृढ़निश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पणकर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंसे उद्वेग नहीं पाता; जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है । १५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चिंतारहित है, संकल्पमात्रका जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है । १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएं नहीं बांधता, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है । १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१९।।

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—

इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुतिमें समान भावसे बर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय।

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

इस अध्यायमें शरीर और शरीरीका भेद बतलाया है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे कौंतेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं । १

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

और हे भारत ! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान । मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान ही ज्ञान है । २

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहांसे है और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेपमें सुन । ३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

विविध छंदोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारसे और उदाहरण युक्तियोंद्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्योंमें

ऋषियोंने इस विषयको बहुत गाया है । ४

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां, एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनशक्ति, धृति—यह अपने विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेपमें कहा है । ५-६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश । अहंकार अर्थात् शरीरके प्रति विद्यमान अहंता, अहंपना । अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति । दस इंद्रियोंमें पांच ज्ञानेंद्रियां—नाक, कान, आंख, जीभ और चाम, तथा पांच कर्मेंद्रियां—हाथ, पैर, मुंह और दो गुह्येंद्रियां । पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेंद्रियोंके पांच विषय—सूंघना, सुनना, देखना, चखना और छूना । संघात अर्थात् शरीरके तत्त्वोंकी परस्पर सहयोग करनेकी शक्ति । धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं, किंतु इस शरीरके परमाणुओंका एक दूसरेसे सटे रहनेका गुण । यह गुण अहंभावके कारण ही संभव है और यह अहंता

अव्यक्त प्रकृतिमें विद्यमान है। मोहरहित मनुष्य इस अहंताका ज्ञानपूर्वक त्याग करता है और इस कारण मृत्युके समय या दूसरे आघातोंसे वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अंतमें तो, इस विकारी क्षेत्रका त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियोंके विषयोंमें वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंका निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें मोह तथा ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियमें नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक

एकनिष्ठ भक्ति, एकांत स्थानका सेवन, जनसमूहमें सम्मिलित होनेकी अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यता-का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है। ७-८-९-१०-११

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है, सो तुझसे कहूंगा। वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है। १२

टिप्पणी—परमेश्वरको सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्दसे उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जहां देखो वहीं उसके हाथ, पैर, आंखें, सिर, मुंह और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोकमें विद्यमान है। १३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सब इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इंद्रियरहित और सबसे अलिप्त है,

तथापि सबको धारण करनेवाला है। वह गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। १४

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह भूतोंके बाहर है और अंदर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप भी है। १५

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अंदर है। गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते हैं और सब भाव उसीमेंसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

भूतोंमें वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है। वह जाननेयोग्य (ब्रह्म) प्राणियोंका पालक, नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतियोंकी भी वह ज्योति है, अंधकारसे वह पर कहा जाता है। ज्ञान वही है, जाननेयोग्य वही है

और ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदयमें मौजूद है। १७

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें मैंने संक्षेपमें बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भावको पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जान। विकार और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान। १९

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और कारणका हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोगमें हेतु कहा जाता है। २०

पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृतिमें रहनेवाला पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको भोगता है और यह गुणसंग भली-बुरी योनिमें उसके जन्मका कारण बनता है। २१

टिप्पणी—प्रकृतिको हम लोग लौकिक भाषामें

मायाके नामसे पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूलस्वभावके वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस् या तमस्से होनेवाले कार्योंका फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इस देहमें स्थित जो परमपुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृतिको जानता है, वह सब प्रकारसे कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२, ९, १२ और अन्यान्य अध्यायोंकी सहायतासे हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचारका समर्थन करनेवाला नहीं है, बल्कि भक्तिकी महिमा बतलानेवाला है। कर्ममात्र जीवके लिए बंधनकर्ता हैं, किंतु यदि वह सब कर्म परमात्माको अर्पण कर दे तो वह बंधनमुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिसमेंसे कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो

अंतर्यामीको चौबीसों घंटे पहचान रहा है वह पापकर्म कर ही नहीं सकता। पापका मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं है वहां पाप नहीं है। यह श्लोक पापकर्म न करनेकी युक्ति बतलाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यानमार्गसे आत्माद्वारा आत्माको अपनेमें देखता है; कितने ही ज्ञानमार्गसे और दूसरे कितने ही कर्ममार्गसे। २४

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

और कोई इन मार्गोंको न जाननेके कारण दूसरोंसे परमात्माके विषयमें सुनकर, सुने हुएपर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्युको तर जाते हैं। २५

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुई जान। २६

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समस्त नाशवान प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको समभावसे मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है । २७

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

जो मनुष्य ईश्वरको सर्वत्र समभावसे अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नहीं करता और इससे परमगतिको पाता है । २८

टिप्पणी—समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखनेवाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता । इसलिए विकारवश न होकर मोक्ष पाता है, अपना शत्रु नहीं बनता ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्माको अकर्तारूप जानता है वही जानता है । २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्यका आत्मा निद्राका कर्ता नहीं है, किंतु प्रकृति निद्राका कर्म करती

है। निर्विकार मनुष्यके नेत्र कोई गंदगी नहीं देखते। प्रकृति व्यभिचारिणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलापमेंसे विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब वह जीवोंका अस्तित्व पृथक् होनेपर भी एकमें ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तारको उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्मको पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभवसे सब कुछ ब्रह्ममें ही देखना ब्रह्मको प्राप्त करना है। उस समय जीव शिवसे भिन्न नहीं रह जाता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौंतेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिप्त होता है। ३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश

लिप्त नहीं होता, वैसे सब देहमें रहनेवाला आत्मा लिप्त नहीं होता । ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगतको प्रकाश देता है, वैसे हे भारत ! क्षेत्री समूचे क्षेत्रको प्रकाशित करता है । ३३

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद और प्रकृतिके बंधनसे प्राणियोंकी मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्मको पाता है । ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवां अध्याय ।

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्रकृतिका थोड़ा परिचय करानेके बाद स्वभावतः तीनों गुणोंका वर्णन इस अध्यायमें आता है और यह करते हुए गुणातीतके लक्षण भगवान गिनाते हैं। दूसरे अध्यायमें जो लक्षण स्थितप्रज्ञके दिखाई देते हैं, बारहवेंमें जो भक्तके दिखाई देते हैं, वैसे इसमें गुणातीतके हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

ज्ञानोंमें जिस उत्तम ज्ञानका अनुभव करके सब मुनियोंने यह शरीर छोड़नेपर परम गति पाई है वह मैं तुझसे फिर कहूंगा। १

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जिन्होंने मेरे भावको प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकालमें जन्मना नहीं पड़ता और प्रलयकालमें व्यथा भोगनी नहीं पड़ती। २

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है । उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्रकी उत्पत्ति होती है । ३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कौंतेय ! सब योनियोंमें जिन-जिन प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्तिका स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—मैं हूं । ४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुण हैं । वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देहके संबंधमें बांधते हैं । ५

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है, और हे अनघ ! वह देहीको सुखके और ज्ञानके संबंधमें बांधता है । ६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे कौंतेय ! रजोगुण रागरूप होनेंसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है, वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है । ७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है । वह देहधारीमात्रको मोहमें डालता है और वह देहीको असावधानी, आलस्य तथा निद्राके पाशमें बांधता है । ८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्व आत्माको शांतिसुखका संग कराता है, रजस् कर्मका और तमस् ज्ञानको ढककर प्रमादका संग कराता है । ९

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है; सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है । १०

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सब इंद्रियोंद्वारा इस देहमें जब प्रकाश और ज्ञानका उद्‌भव होता है तब सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए । ११

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, अशांति और इच्छाका उदय होता है । १२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है । १३

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई होनेपर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकको पाता है । १४

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुणमें मृत्यु होनेपर देहधारी कर्मसंगीके लोकमें जन्मता है और तमोगुणमें मृत्यु पानेवाला मूढ़योनिमें जन्मता है। १५

टिप्पणी—कर्मसंगीसे तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनिसे तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल होता है। राजसी कर्मका फल दुःख होता है और तामसी कर्मका फल अज्ञान होता है। १६

टिप्पणी–जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहां उस सुख-दुःखका उल्लेख नहीं समझना चाहिए। सुखसे मतलब है आत्मानंद, आत्मप्रकाश। इससे जो उलटा है वह दुःख है। १७वें श्लोकमें यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुणमेंसे ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणमेंसे लोभ और तमोगुणमेंसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। १७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढ़ते हैं, राजसी मध्यमें रहते हैं और अंतिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं । १८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणोंके सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणोंसे पर है उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है । १९

टिप्पणी—गुणोंको कर्ता माननेवालेको अहंभाव होता ही नहीं । इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीरयात्राभरके लिए होते हैं । और शरीरयात्रा परमार्थके लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामोंमें निरंतर त्याग और वैराग्य होना चाहिए । ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणोंसे परे निर्गुण ईश्वरकी भावना करता और उसे भजता है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंको पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जराके दुःखसे छूट जाता है और मोक्ष पाता है । २०

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—

हे प्रभो ! इन गुणोंको तर जानेवाला किन लक्षणों-से पहचाना जाता है ? उसके आचार क्या होते हैं ? और वह तीनों गुणोंको किस प्रकार पार करता है ? २१

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पांडव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होनेपर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीनकी भांति जो स्थिर

है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुखदुःखमें सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर एक समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निंदा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें समानभाव रखता है और जिसने समस्त आरंभोंका त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है। २२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ तकके श्लोक एकसाथ विचारने योग्य हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोकमें कहे अनुसार क्रमसे सत्त्व, रजस् और तमस्के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो गुणोंको पार कर गया है उसपर उस परिणामका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकाशकी इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ताका द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शांति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देनेके बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे, प्रवृत्ति—गति बंद हो गई, मोह—जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुःखी नहीं होता,

वरन् तीनों स्थितियोंमें वह एक समान बर्तता है। पत्थर और गुणातीतमें अंतर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणोंके परिणामोंका—स्पर्शका त्याग किया है और जड़—पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणोंका अर्थात् प्रकृतिके कार्योंका साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानीके संबंधमें यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोकके कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं' यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है, उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणोंमें तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परंतु उस कल्पनाको दृष्टिमें रखकर हम 'मैं' पनेको दिन-दिन घटाते जायं तो अंतमें गुणातीतकी अवस्थाके समीप पहुंचकर उसकी झांकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थितिका अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहजमें अनुभव कर सकते हैं वह शांति, प्रकाश, 'धांधल'—प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है।

गीतामें स्थान-स्थानपर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीतके समीप-से-समीपकी स्थिति है। इसलिए मनुष्यमात्रका प्रयत्न सत्त्वगुणके विकास करनेका है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा मुझे सेता है वह इन गुणोंका पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है। २६

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

और ब्रह्मकी स्थिति मैं ही हूं, शाश्वत मोक्षकी स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्मकी और उत्तम सुखकी स्थिति भी मैं ही हूं। २७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवां अध्याय।

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

भगवानने इस अध्यायमें क्षर और अक्षरसे परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले—

जिसका मूल ऊंचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्षका बुद्धिमान लोगोंने वर्णन किया है, इसे जो जानते हैं वे वेदके जाननेवाले ज्ञानी हैं। १

टिप्पणी—'श्वः' का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थका मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसारका प्रतिक्षण रूपांतर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है; परंतु ऐसी स्थितिमें वह सदा रहनेवाला होनेके कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्मके शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते

न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार-का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्मको जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

गुणोंके स्पर्शद्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोपलों-वाली उस अश्वत्थकी डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; कर्मोंका बंधन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्यलोकमें नीचे फैली हुई हैं। २

टिप्पणी—यह संसारवृक्षका अज्ञानीकी दृष्टिवाला वर्णन है। उसके ऊंचे ईश्वरमें रहनेवाले मूलको वह नहीं देखता, बल्कि विषयोंकी रमणीयतापर मुग्ध रह-कर, तीनों गुणोंद्वारा इस वृक्षका पोषण करता है और मनुष्यलोकमें कर्मपाशमें बंधा हुआ रहता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उसका यथार्थ स्वरूप देखनेमें नहीं आता। उसका अंत नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई-तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थवृक्षको असंगरूपी बलवान शस्त्रसे काटकर मनुष्य यह प्रार्थना करे —
'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुषकी मैं शरण जाता हूं।' और उस पदको खोजे जिसे पानेवालेको पुनः जन्ममरणके फेरमें पड़ना नहीं पड़ता। ३-४

टिप्पणी—असंगसे मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयोंसे असहयोग न करे, उनके प्रलो-भनोंसे दूर न रहे तबतक वह उनमें फंसता ही रहेगा। इस श्लोकका आशय यह है कि विषयोंके साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना यह अनहोनी बात है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मामें नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत हो गये हैं, जो

सुखदुःखरूपी द्वंद्वोंसे मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पदको पाता है। ५

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

वहां सूर्यको, चंद्रको या अग्निको प्रकाश नहीं देना पड़ता। जहां जानेवालेको फिर जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली पांच इंद्रियोंको और मनको आकर्षित करता है। ७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मनके साथ इंद्रियोंको) साथ ले जाता है जैसे वायु आसपासके मंडलमेंसे गंध ले जाता है। ८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

और वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और

मनका आश्रय लेकर विषयोंका सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहां 'विषय' शब्दका अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इंद्रियकी स्वाभाविक क्रिया है, जैसे आंखका विषय है देखना, कानका सुनना, जीभका चखना। ये क्रियाएं जब विकारवाली, अहं-भाव वाली होती हैं तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आंखसे देखता या हाथसे छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचेके श्लोकमें कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले अथवा गुणोंका आश्रय लेकर भोग भोगनेवालेको (इस अंशरूपी ईश्वरको), मूर्ख नहीं देखते, किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करते हुए योगीजन अपनेमें स्थित (इस ईश्वर)को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पह-चानते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्यायमें दुराचारीको भगवानने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मासे तात्पर्य है भक्तिहीन। स्वेच्छाचारी, दुराचारी जो नम्रतापूर्वक श्रद्धासे ईश्वरको भजता है वह आत्मशुद्ध हो जाता है और ईश्वरको पहचानता है। जो यम-नियमादिकी परवाह न कर केवल बुद्धिप्रयोगसे ईश्वरको पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्तसे रहित, रामसे रहित, रामको नहीं पहचान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्यमें विद्यमान जो तेज समूचे जगतको प्रकाशित करता है और जो तेज चंद्रमें तथा अग्निमें विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान। १२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे मैं प्राणियोंको धारण करता हूं और रसोंको उत्पन्न करनेवाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूं। १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर जठराग्नि होकर

प्राण और अपान वायुद्वारा मैं चार प्रकारका अन्न पचाता हूं। १४

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबके हृदयोंमें अधिष्ठित मेरेद्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है। समस्त वेदोंद्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदोंका जाननेवाला मैं हूं, वेदांतका प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं। १५

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोकमें क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है। १६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षरसे पर और अक्षरसे भी उत्तम हूं, इसलिए वेदों और लोकोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात हूं । १८

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! मोहरहित होकर मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभावसे भजता है । १९

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे अनघ ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा । हे भारत ! इसे जानकर मनुष्यको चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे । २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'पुरुषो-त्तमयोग' नामक पंद्रहवां अध्याय ।

: १६ :

दैवासुरसंपद्‌विभागयोग

इस अध्यायमें दैवी और आसुरी संपद्‌का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्रीभगवान बोले—

हे भारत ! अभय, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत्‌को लेकर जन्मा है। १-२-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसीकी चुगली न खाना, अलोलुपता अर्थात् लालसा

न रखना—लंपट न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकार-की हीन वृत्तिका विरोध करनेका जोश, अद्रोह अर्थात् किसीका बुरा न चाहना या करना ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालोंमें होते हैं । ४

टिप्पणी—जो अपनेमें नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है । दर्प यानी बड़ाई, पारुष्यका अर्थ है कठोरता ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बंधनमें डालनेवाली मानी गई है । हे पांडव ! तू विषाद मत कर । तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है । ५

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

इस लोकमें दो प्रकारकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी । हे पार्थ ! दैवीका विस्तारसे वर्णन किया गया । आसुरीका (अब) सुन । ६

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर लोग यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है । वैसे ही उन्हें शौचका, आचारका और सत्यका भान नहीं है । ७

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे कहते हैं, जगत असत्य निराधार और ईश्वर-रहित है । केवल नर-मादाके संबंधसे हुआ है । उसमें विषय-भोगके सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? ८

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

भयंकर काम करनेवाले, मंदमति, दुष्टगण इस अभिप्रायको पकड़े हुए जगतके शत्रु, उसके नाशके लिए उत्पन्न होते हैं । ९

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

तृप्त न होनेवाली कामनाओंसे भरपूर, दंभी, मानी, मदांध, अशुभ निश्चयवाले मोहसे दुष्ट इच्छाएं ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं । १०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

प्रलयपर्यंत अंत ही न होनेवाली ऐसी अपरिमित चिंताका आश्रय लेकर, कामोंके परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओंके जालमें फंसे हुए, कामी, क्रोधी, विषयभोगके लिए अन्यायपूर्वक धन-संचयकी चाह रखते हैं। ११-१२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूंगा; इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा; इस शत्रुको तो मारा, दूसरेको भी मारूंगा; मैं सर्वसंपन्न हूं, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान हूं, सुखी हूं; मैं श्रीमान् हूं, कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा

कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा,—अज्ञानसे मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रांतियोंमें पड़े, मोहजालमें फंसे, विषयभोगमें मस्त हुए अशुभ नरकमें गिरते हैं । १३-१४-१५-१६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपनेको बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मदमें मस्त हुए (ये लोग) दंभ से और विधि-रहित नाममात्रके ही यज्ञ करते हैं । १७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लेनेवाले, निंदा करनेवाले और उनमें तथा दूसरोंमें रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेष करनेवाले हैं । १८

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इन नीच, द्वेषी, क्रूर अमंगल नराधमोंको मैं इस संसारकी अत्यंत आसुरी योनिमें ही बारंबार डालता हूं । १९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौंतेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनिको पाकर और मुझे न पानेसे ये मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

आत्माका नाश करनेवाले नरकके ये त्रिविध द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनका मनुष्यको त्याग करना चाहिए। २१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौंतेय ! इस त्रिविध नरकद्वारसे दूर रहनेवाला मनुष्य आत्माके कल्याणका आचरण करता है और इससे परम गतिको पाता है। २२

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे भोगों-में लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधिका अर्थ धर्मके नामसे माने जानेवाले ग्रंथोंमें बतलाई हुई अनेक क्रियाएं नहीं, बल्कि

अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषोंका अनुभव किया हुआ संयम मार्ग है ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कार्य और अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिए । शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर यहां तुझे कर्म करना उचित है । २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्र-का वही अर्थ यहां भी है । सबको निज-निजके नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्मके अनुभवीके वाक्यको प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोकका आशय है ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'दैवासुर-संपदविभागयोग' नामक सोलहवां अध्याय ।

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचारको प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुनको शंका हुई कि जो शिष्टाचारको न मान सके; पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है। इस अध्यायमें इसका उत्तर देनेका प्रयत्न है; परंतु शिष्टाचाररूपी दीपस्तंभ छोड़ देनेके बादकी श्रद्धामें भयोंकी संभावना बतलाकर भगवानने संतोष माना है। इसलिए श्रद्धा और उसके आधारपर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदिके गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचारकी परवा न कर जो केवल श्रद्धासे ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है ?—सात्त्विक, राजसी या तामसी ? १

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले—

मनुष्यमें स्वभावसे ही तीन प्रकारकी श्रद्धा अर्थात् सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन । २

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभावका अनुसरण करती है । मनुष्यमें कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है । जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है । ३

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक लोग देवताओंको भजते हैं, राजसलोग यक्षों और राक्षसोंको भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादिको भजते हैं । ४

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दंभ और अहंकारवाले, काम और रागके बलसे प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधिसे रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग शरीरमें स्थित पंच महाभूतोंको और अंतःकरणमें विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसोंको आसुरी-निश्चयवाला जान। ५–६

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहार भी तीन प्रकारसे प्रिय होता है। उसी प्रकार, यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकारसे प्रिय होता) है। उसका यह भेद तू सुन। ७

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मनको रुचिकर आहार सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। ८

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं

और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पहरभरसे पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है। १०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जिसमें फलकी इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्त्तव्य समझकर, मनको उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फलके उद्देश्यसे और दंभसे होता है उस यज्ञको राजसी जान। १२

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

जिसमें विधि नहीं है, अन्नकी उत्पत्ति नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञको बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है । १४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रंथोंका अभ्यास — यह वाचिक तप कहलाता है । १५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावनाशुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है । १६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छाका त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकारका तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं । १७

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो सत्कार, मान और पूजाके लिए दंभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चित तप, राजस कहलाता है। १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरेके नाशके लिए होता है वह तामस तप कहलाता है। १९

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलनेकी आशाके बिना, देश, काल और पात्रको देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा है। २०

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान बदला मिलनेके लिए अथवा फलको लक्ष्यकर और दुःखके साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है। २१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

देश, काल और पात्रका विचार किये बिना, बिना

मानके, तिरस्कारसे दिया हुआ दान, तामसी कहलाता है । २२

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

ब्रह्मका वर्णन 'ॐ तत् सत्' इस तरह तीन प्रकारसे हुआ है और इसके द्वारा पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए । २३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएं सदा विधिवत् करते हैं । २४

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।

और, मोक्षार्थी 'तत्'का उच्चारण करके फलकी आशा रखे बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएं करते हैं । २५

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

सत्य और कल्याणके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है । और हे पार्थ ! भले कामोंमें भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है । २६

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दानमें दृढ़ताको भी सत् कहते हैं । तत्के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है । २७

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकोंका भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है । उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके होता है वह असत् कहलाता है । वह न तो यहांके कामका है, न परलोकके । २८

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवां अध्याय ।

: १८ :

संन्यासयोग

इस अध्यायको उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्यायका या गीताका प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मोंको तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है; परंतु सब धर्मोंके त्यागका मतलब सब कर्मोंका त्याग नहीं है। परोपकारके कर्मोंमें भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यास और त्यागका पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं। १

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले—

काम्य (कामनासे उत्पन्न हुए) कर्मोंके त्यागको ज्ञानी संन्यासके नामसे जानते हैं। समस्त कर्मोंके फलके त्यागको बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। २

> त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
> यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होनेके कारण त्यागनेयोग्य हैं। दूसरोंका कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं। ३

> निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
> त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतसत्तम! इस त्यागके विषयमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र! त्याग तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। ४

> यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं हैं वरन् करनेयोग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकीको पावन करनेवाले हैं। ५

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है । ६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है । मोहके वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है । ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

दुःखकारक समझकर कायाकष्टके भयसे जो कर्म-का त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्यागका फल नहीं मिलता । ८

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागःसात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! करना चाहिए, ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फलको त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है । ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

संशयरहित हुआ, शुद्धभावनावाला, त्यागी और बुद्धिमान असुविधाजनक कर्मका द्वेष नहीं करता, सुविधावालेमें लीन नहीं होता। १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

कर्मका सर्वथा त्याग देहधारीके लिए संभव नहीं है; परंतु जो कर्मफलका त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है। ११

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

त्याग न करनेवालेके कर्मका फल कालांतरमें तीन प्रकारका होता है, अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता। १२

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो! कर्ममात्रकी सिद्धिके विषयमें सांख्यशास्त्रमें पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे जान। १३

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

वे पांच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पांचवां दैव। १४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा अथवा मनसे जो कोई भी कर्म मनुष्य नीतिसम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके ये पांच कारण होते हैं । १५

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होनेपर भी, असंस्कारी बुद्धिके कारण जो अपनेको ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं है । १६

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकारभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगतको मारते हुए भी नहीं मारता, न बंधनमें पड़ता है । १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपरसे पढ़नेपर यह श्लोक मनुष्यको भुलावेमें डालनेवाला है । गीताके अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्शका अवलंबन करनेवाले हैं । उसका सच्चा नमूना जगतमें नहीं मिल सकता और उपयोगके लिए भी जिस तरह रेखागणितमें काल्पनिक आदर्श आकृतियोंकी आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहारके

लिए है। इसलिए इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धिमें लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगतको मार डाले; परंतु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान है। वह करते हुए भी अकर्ता है, मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्यके सामने तो एक न मारनेका और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्मकी प्रेरणामें तीन तत्त्व विद्यमान हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्मके अंग तीन प्रकारके होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी—इसमें विचार और आचारका समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान)को जानता है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्मप्रेरणाके प्रकारके बाद वह इंद्रियों (करण) द्वारा क्रियाका कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेदके अनसार तीन प्रकारके हैं । गुणगणनामें उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन । १९

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतोंमें एक ही अविनाशी भावको और विविधतामें एकताको देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान । २०

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं
नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

भिन्न-भिन्न (देखनेमें) होनेके कारण समस्त भूतोंमें जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावोंको देखता है उस ज्ञानको राजस जान । २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिसके द्वारा एक ही कार्यमें बिना किसी कारणके सब आ जानेका भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है । २२

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

फलेच्छारहित पुरुषका आसक्ति और राग-द्वेषके बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है । २३

टिप्पणी—(देखो, टिप्पणी अध्याय ३-८)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।

भोगकी इच्छा रखनेवाले जिस कार्यको 'मैं करता हूं', इस भावसे बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है । २४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

मनुष्य जो काम परिणामका, हानिका, हिंसाका और अपनी शक्तिका विचार किये बिना, मोहके वश होकर आरंभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।२६।।

जो आसक्ति और अहंकाररहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलतामें हर्ष-शोक नहीं करता वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है । २६

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो रागी है, जो कर्मफलकी इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, मलिन है, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है । २७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहलाता है । २८

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृतिके गुणके अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूं, उन्हें सुन । २९

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बंध, मोक्षका भेद जो बुद्धि (उचित रीतिसे) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है । ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका विवेक गलत ढंगसे करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है । ३१

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि अंधकारसे घिरी हुई है, अधर्मको धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है । ३२

धृत्या यया धारयते
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या
धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृतिसे मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाको साम्यबुद्धिसे धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है । ३३

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ ! जिस धृतिसे मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है । ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिस धृतिसे दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मदको छोड़ नहीं सकता, हे पार्थ ! वह तामसी धृति है। ३५

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकारके सुखका वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्याससे मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःखका अंत होता है, जो आरंभमें विषसमान लगता है, परिणाममें अमृत-जैसा होता है, जो आत्म-ज्ञानकी प्रसन्नतामेंसे उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय और इंद्रियोंके संयोगसे जो आरंभमें अमृत-समान लगता है पर परिणाममें विषसमान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरंभमें और परिणाममें आत्माको मोहग्रस्त

करनेवाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादमेंसे उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में या देवताओंके मध्य स्वर्गमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृतिमें उत्पन्न हुए इन तीन गुणोंसे मुक्त हो। ४०

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंके भी उनके स्वभावजन्य गुणोंके कारण विभाग हो गये हैं। ४१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४३

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावजन्य कर्म हैं । और शूद्रका स्वभावजन्य कर्म सेवा है । ४४

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वयं अपने कर्ममें रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है । अपने कर्ममें रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन । ४५

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिसके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्मद्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है । ४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

परधर्म सुकर होनेपर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है । स्वभावके अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्यको पाप नहीं लगता । ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य । गीताकी शिक्षाका मध्यबिंदु कर्मफलत्याग है और स्वकर्मकी

अपेक्षा अधिक उत्तम कर्तव्य खोजनेपर फलत्याग-के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्मको श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मोंका फल उसके पालनमें आ जाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कौंतेय! स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होनेपर भी छोड़ना न चाहिए। जिस प्रकार अग्निके साथ धुएंका संयोग है उसी प्रकार सब कामोंके साथ दोष मौजूद है। ४८

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिसने सब कहींसे आसक्तिको खींच लिया है, जिसने कामनाओंको त्याग दिया है, जिसने मनको जीत लिया है, वह संन्यासद्वारा निष्कामतारूपी परम-सिद्धि पाता है। ४९

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौंतेय! सिद्धि प्राप्त होनेपर मनुष्य ब्रह्मको किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेपमें सुन। ज्ञानकी पराकाष्ठा यही है। ५०

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़तापूर्वक अपनेको वशमें करके, शब्दादि विषयों-का त्याग कर, रागद्वेषको जीतकर, एकांत सेवन करके, अल्पाहार करके, वाचा, काया और मनको अंकुशमें रखकर, ध्यानयोगमें नित्यपरायण रहकर, वैराग्यका आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्यागकर, ममतारहित और शांत होकर ब्रह्मभावको पानेयोग्य बनता है ।

५१-५२-५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

ब्रह्मभावको प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है । भूतमात्रमें समभाव रख-कर मेरी परमभक्तिको पाता है । ५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।

मैं कैसा और कौन हूं इसे भक्तिद्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है । ५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।

मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत, अव्ययपदको पाता है । ५६

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।

मनसे सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके, मुझमें परायण होकर, विवेकबुद्धिका आश्रय लेकर निरंतर मुझमें चित्त लगा । ५७

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।५८।।

मुझमें चित्त लगानेपर कठिनाइयोंके समस्त पहाड़को मेरी कृपासे पार कर जायगा, किंतु यदि अहंकारके वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा । ५८

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

अहंकारके वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ़ बलात्कारसे घसीट ले जायगा। ५९

स्वभावजेन कौन्तेय
निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौंतेय! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होनेके कारण तू जो मोहके वश होकर नहीं करना चाहता वह बरबस करेगा। ६०

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करता है और अपनी मायाके बलसे उन्हें चाकपर चढ़े हुए घड़ेकी तरह घुमाता है। ६१

तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत! सर्वभावसे तू उसकी शरण ले। उसकी कृपासे परमशांतिमय अमरपदको पावेगा। ६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्य-से-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा । इस सारेका भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर । ६३

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परमवचन सुन । तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूंगा । ६४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर । तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है । तू मुझे प्रिय है । ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मोंका त्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा । शोक मत कर । ६६

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

परंतु यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा वह मेरी परम भक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा। ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उसकी अपेक्षा मनुष्योंमें मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और इस पृथ्वीमें उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नहीं है। ६९

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमारे इस धर्म्यसंवादका जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञद्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है। ७०

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभलोकको पावेगा। ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञानका अनुभव किया है वही इसे दूसरेको दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थसहित सुना जानेवालों-के विषयमें ये दोनों श्लोक नहीं हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ! यह तूने एकाग्रचित्तसे सुना? हे धनंजय! इस अज्ञानके कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया? ७२

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंकाका समाधान हो जानेसे मैं स्वस्थ हो गया हूं। आपका कहा करूंगा। ७३

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजयने कहा—

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना । ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजीकी कृपासे योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखसे मैंने यह गुह्य परम योग सुना । ७५

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत और पवित्र संवादका स्मरण कर-करके, मैं बारंबार आनंदित होता हूं । ७६

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन् ! हरिके उस अद्भुत रूपका खूब स्मरण कर-करके मैं बहुत विस्मित होता हूं और बारंबार आनंदित होता रहता हूं । ७७

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ

है, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुनसे अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनोंका संगम जहां हो, वहां संजयने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'संन्यासयोग' नामक अठारहवां अध्याय।

ॐ शांतिः